स्वामीनाथ

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६२,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२००, सितम्बर १९७४

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—भगवती सरस्वतीकी वन्दना [संकलित]	९२१
२—कल्याण ('भाईजी')	९२२
३—अभिलाषा [कविता] (श्रीललितकिशोरीजी)	९२३
४—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश	९२४
५—सबसे सगे भगवान् (अनन्त-श्रीविभूषित स्वामी करपात्रीजी महाराज)	९२८
६—अनन्य शरणागति—सर्वस्व-समर्पण (स्वामी श्रीसनातनदेवजी)	९३०
७—परमार्थकी पगडंडियाँ [नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत-वचन]	९३२
८—अपने पापोंकी आलोचना करें, दूसरोंकी नहीं (श्रीरामकृष्ण परमहंस)	९३६
९—गीताका ज्ञानयोग—३ [श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या] (स्वामी रामसुखदास)	९३७
१०—महात्मा पूनतानम् (श्रीरामलाल)	९४४
११—श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना	९४७
१२—शिक्षाका वास्तविक उद्देश्य [गोलोकवासी डा० (श्री) गोबिन्ददासजी]	९४८
१३—बंदी-मुक्ति (श्रीसुदर्शनसिंहजी)	९५०
१४—गायत्री-मन्त्र (डॉ० श्रीसर्वानन्दजी पाठक, एम्० ए०, पी-एच्० डी० (द्वय), डी० लिट्०)	९५५
१५—प्रार्थना (तुम्हारा अपना ही एक)	९५८
१६—मेरे प्राणोंमें आ,प्रियतम [कविता](विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ टैगोरके 'तुमि नव नव रुपे ऐशो प्राणे' गीतका श्रीसत्यकामजी विद्यालंकारद्वारा किया हुआ भावानुवाद)	९५९
१७—राजा पुरुयशाको सायुज्यकी प्राप्ति (श्रीशिवनाथजी दुबे)	९६०
१८—यजन—एक प्रतीकात्मक विवेचन (आचार्य पं० श्रीमुंशीरामजी शर्मा)	९६२
१९—'सुधि राखो वा दिन की!' [कविता] (श्रीचरणदासजी)	९६६
२०—गोस्वामी तुलसीदासजीकी भक्ति-भावना (डा० श्रीपरमलालजी गुप्त, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	९६७
२१—श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना (नाम-जप-विभाग)	९६९
२२—पढ़ो, समझो और करो	९७२

चित्र-सूची

१—श्रीवसुदेव-देवकीके समक्ष भगवान्का प्राकट्य	(रेखाचित्र)	मुखपृष्ठ
२—भगवती सरस्वती	([illegible])	९२१

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—स्वामी रामसुखदास, पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

भगवती सरस्वती

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यं निर्जरासुरनरा अखिलार्थसिद्ध्यै भूर्यन्तरायहतयेऽनुदिनं नमन्ति ।
तं भक्तकामपरिपूरणकल्पवृक्षं भक्त्या गणेशमखिलार्थदमानतोऽस्मि ॥

वर्ष ४८ } गोरखपुर, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२००, सितम्बर, १९७४ { संख्या ९ पूर्ण संख्या ५७४

भगवती सरस्वतीकी वन्दना

शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीं
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम् ।
हस्ते स्फाटिकमालिकां च दधतीं पद्मासने संस्थितां
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम् ॥

जो शुक्ल (श्वेत) वर्णकी हैं, ब्रह्मविचारकी परमतत्त्वस्वरूपा हैं, समस्त जगत्में परिव्याप्त हैं, हाथमें वीणा और पुस्तक धारण किये रहती हैं, अभयका दान देती हैं, अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश करती हैं, हाथमें स्फटिक-मणिकी माला लिये रहती हैं, कमलके आसनपर विराजमान हैं तथा बुद्धि प्रदान करती हैं, मैं उन आद्या परमेश्वरी भगवती सरस्वतीकी वन्दना करता हूँ ।

कल्याण

श्रीमद्भागवतमें भगवान् अपने प्यारे सखा उद्धवसे कहते हैं—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥
(११ । २९ । २२)

'बुद्धिमानोंकी बुद्धि और मनीषियोंकी मनीषा यही है कि वे असत्य और मर्त्य देहके द्वारा मुझ सत्य और अमृतरूपको प्राप्त कर लें ।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्ने उन्हींको बुद्धिमान् कहा है, जो दुःख उत्पन्न करनेवाले, उत्पत्ति-विनाशशील भोगोंमें अपने मनको नहीं फँसाते (५ । २२) और जो भगवान्को ही सबका मूल तथा भगवान्से ही सबको प्रवर्तित समझकर भावके साथ उन्हें भजते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
(गीता १० । ८)

भगवान्के इन वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि मनुष्य-शरीरका यही चरम उद्देश्य है और यही परम फल है कि अपने अधिकारानुसार साधन करके भगवान्को प्राप्त कर लिया जाय। मानव-जीवनके इस चरम उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये शास्त्रों एवं संतोंने अनेक उपाय बतलाये हैं । पर मेरी समझमें सबसे प्रथम साधन है—भगवत्प्राप्तिकी उत्कट इच्छा—ऐसी इच्छा कि जैसे प्याससे मरते हुए मनुष्यको जलकी होती है । इस प्रकारकी तीव्र और अनिवार्य आवश्यकता उत्पन्न हो जानेपर—जैसे प्यासेको जलका अनन्य चिन्तन होता है और जल मिलनेमें जितनी ही देर होती है, उतनी ही उसकी व्याकुलता बढ़ती है, वैसे ही उसके द्वारा भगवान्का अनन्य चिन्तन होगा, भगवान्के लिये परम व्याकुलता होगी एवं अन्तमें उसे भगवान्की प्राप्ति हो जायगी ।

भगवान्के लिये मनमें अत्यन्त तीव्र इच्छा होनी चाहिये—हृदयमें ऐसी आग भड़क उठनी चाहिये, जो भगवान्के अजस्र दर्शन-वारिके बिना कभी किसी प्रकार शान्त ही न हो—ऐसी मार्मिक पीड़ा होनी चाहिये, जो केवल श्रीकृष्ण-वैद्यकी मिलन-ओषधिसे ही दूर हो—

'मीराँ की तब पीर मिटै जब बैद साँवलिया होय ।'

पर हमारी दशा तो विचित्र है। हमलोग तो भगवत्प्राप्तिकी वैसी ही इच्छा करते हैं, जैसे एक बालक दूसरे बालकके मुँहसे किसी खिलौनेकी प्रशंसा सुनकर अपने दस खिलौनोंके साथ उसे भी रखना चाहता है और पिता-मातासे उसे मँगवा देनेके लिये आग्रह करता है । अथवा जैसे कोई शौकीन मनुष्य अपने घरमें सजावटके दूसरे सैकड़ों पदार्थोंके साथ-साथ भगवान्के चित्र भी रखना चाहता है । वस्तुतः ऐसी चाहसे भगवान् नहीं मिलते । उनके लिये तो हृदयमें ऐसी तीव्र इच्छा होनी चाहिये कि जिसकी पूर्तिके बिना क्षणभरके लिये भी चैन न पड़े; भगवान्के दर्शनके अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तुका नाम भी न सुहावे—कहीं, किसी भी स्थिति या पदार्थमें मन टिके ही नहीं । दिन-रात भगवान्का ही चिन्तन, उन्हींका स्मरण हो और पल-पलमें उनके उद्देश्यसे सर्वस्व-त्यागके लिये—बड़े-से-बड़े बलिदानके लिये चित्तमें सुखभरी उमङ्गें उठती रहें ।

भगवान्की प्राप्तिके लिये साधककी जहाँ ऐसी उत्कट इच्छा हुई कि फिर उसके सारे कर्म भगवान्के अनुकूल हो जाते हैं और उसकी प्रत्येक चेष्टा भक्ति बन जाती है । फिर वह यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रीय कर्म और खाना-पीना, सोना-उठना, चलना-फिरना, कमाना-खाना आदि लौकिक कर्म—सब स्वाभाविक ही भगवान्के लिये करता

है। भगवान् ही उसके परम आश्रय, परम गति और परम प्रियतम होते हैं। उसकी सारी आसक्ति, ममता और प्रीति सब जगहसे सिमटकर एकमात्र प्राण-प्राण श्रीभगवान्के प्रति ही हो जाती है; वह अनवरत उन्हींका स्मरण-चिन्तन करता रहता है। भगवान् जब इस प्रकार उसकी व्याकुल इच्छाको देखते हैं, तब वे सहज ही आकर्षित होकर उसके सामने प्रकट हो जाते हैं और उसे अपने अङ्कमें लेकर हृदयसे लगा लेते हैं तथा सदाके लिये उसे निहाल कर देते हैं।

आजतक अनेकों भाग्यशाली व्यक्तियोंने अपने जीवन-में इस सत्यकी अनुभूति की है। हमें चाहिये कि हम भी अपने हृदयमें भगवान्के लिये उत्कट चाह उत्पन्न करें और उनके दर्शन प्राप्तकर मानव-जीवनको सफल बनावें।

'भाईजी'

अभिलाषा

कदम-कुंज ह्वै हौं कबै, श्रीबृंदाबन माँहि।
'ललितकिसोरी' लाडिले, बिहरैंगे तिहिं छाँहि॥
कृष्ण-राधिका-कुंड को, ह्वै हौं कबहूँ नीर।
करिहैं केलि कलोल सौं, स्यामल-गौर-सरीर॥
कब धौं सेवाकुंज में, ह्वै हौं स्याम तमाल।
लतिका कर गहि बिरमिहैं ललित लड़ैती-लाल॥
कालीदह कब कूल की ह्वै हौं त्रिबिध समीर।
जुगुल अंग-अँग लागिहौं, उड़िहैं नूतन चीर॥
कब ह्वै हौं हों मोरिनी, श्रीबृंदाबन-धाम।
नचिहौं सँग अँग मोरि कै, सुंदर स्यामा-स्याम॥
कब गहबर की गलिन में, फिरिहौं होय चकोरि।
जुगुल-चंदमुख निरखिहौं, नागर-नवलकिसोरि॥
कालीदह-कूल कुंज के माँहीं भ्रमरी ह्वै द्रुम डारि रहौं।
कीर-कोकिला ह्वै निधुबन में मधुरे राधा-नाम कहौं॥
गुल्म-लता गहबर की ह्वै कै बृंदाबन को बास चहौं।
'ललितकिसोरी' रेनु कीजिये जुगुल चरन उर आँक रहौं॥
गोखुर-रेनु रमनरेती की उड़ि-उड़ि मम अँग-अँग सरैगी।
सोभा कुंज कूल-कालिंदी कालीदह इन नैन फुरैगी॥
गहबर छाँह भजन को बैठों लता-बेलि-द्रुम सीस दुरैगी।
'ललितकिसोरी' जुगुल रसिकबर निरखौं कब मम आस पुरैगी॥

—श्रीललितकिशोरीजी

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को न भूलें]

मनुष्यके लिये सर्वोत्तम बात यह है कि वह एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को न भूले। जो मनुष्य यह नियम ले लेता है कि 'मैं एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को नहीं भूलूँगा' और उसका पालन भी करता है, उसको इसी जन्ममें भगवान्‌की प्राप्ति होनेमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

भगवान्‌की इस घोषणापर विश्वास करके यह निश्चय कर लेना चाहिये कि 'इसी क्षणसे मृत्युपर्यन्त मैं जान-बूझकर भगवान्‌को नहीं भूलूँगा।' ऐसा निश्चय सच्चा होनेपर भगवान् उसमें सहायता करते हैं और अन्तमें उस भक्तकी इच्छा पूर्ण करते हैं। कभी कुछ भूल भी हो जाती है तो भगवान् उसे क्षमा कर देते हैं। यदि कोई कहे कि 'अठारह घंटे तो मनुष्य भगवान्‌का स्मरण कर सकता है, परंतु सोनेके समय छः घंटे उनका स्मरण करना उसके वशकी बात नहीं है; तो इसके लिये यह नियम है कि जाग्रत्-अवस्थामें मनुष्य जो काम करता है, स्वप्नमें उसका मन प्रायः उसीकी स्मृतिमें लीन रहता है। ऐसा देखनेमें आया है कि जो जाग्रत्-अवस्थामें निरन्तर भगवान्‌को स्मरण रखते हैं, स्वप्नमें भी उन्हें भगवान्‌की ही स्मृति रहती है। इतना ही नहीं, जो सोनेके कुछ पूर्व ही भगवान्‌का स्मरण करते हैं और स्मरणके बीचमें निद्राग्रस्त हो जाते हैं, उन्हें भी प्रायः भगवद्-विषयक स्वप्न ही आते रहते हैं। अतएव यह चेष्टा रखनी चाहिये कि होश रहते हुए भगवान्‌का स्मरण न छूटे। जान-बूझकर भगवान्‌को एक क्षणके लिये भी नहीं भूलना चाहिये; क्योंकि जिस क्षण हमने भगवान्‌को भुलाया तथा मनको पशु-पक्षी, कीट-पतंग, मनुष्य-देवता आदिके चिन्तनमें लगाया और संयोगसे उसी क्षण प्राण छूट गये तो हमारे चिन्तनके अनुसार हमें पशु-पक्षी आदिकी योनि ही प्राप्त होगी। भगवान्‌ने भी कहा है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, वह उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

यह मानव-जीवनकी कितनी बड़ी हानि है—मानव-जीवनकी दुर्लभतापर विचार करनेसे इस हानिकी भयानकताका कुछ अनुमान हो सकता है। चौरासी लक्ष योनियोंमें भटकता-भटकता जीव जब अत्यन्त दुःखित हो जाता है, तब भगवान् विशेष कृपा करके उसे मानव-देह प्रदान करते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(मानस ७। ४३। ३)

ऐसा सुदुर्लभ मानव-जीवन व्यर्थ न जाय, इसके लिये भगवान् उपाय बताते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(गीता ८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण

किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।'

भगवान्‌ने स्मरणकी बात मुख्यरूपमें कही है, युद्ध करनेकी गौणरूपमें । इससे यह स्पष्ट है कि भगवान्‌का स्मरण एक क्षणके लिये भी न छूटे; अन्यथा मानव-जीवन व्यर्थ सिद्ध हो सकता है ।

जो मनुष्य भगवान्‌में अपने मनको लगा देते हैं, उनको निश्चय ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनको आदेश दिया—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥
(गीता १२ । ८)

'मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'

भगवान् जब इतना विश्वस्त आश्वासन देते हैं, तब फिर हमारे मन-बुद्धि और क्या काम आयेंगे? इन दोनोंको इसी क्षणसे भगवान्‌के काममें ही लगा देना चाहिये ।

बुद्धिको भगवान्‌में लगा देना यह है कि 'परमात्मा सब जगह समान भावसे और विज्ञान-आनन्दरूपसे विराजमान है, सब जगह आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दके सिवा और कुछ है ही नहीं'—इस प्रकारके ध्यानमें स्थित रहना । इस प्रकारके ध्यानका फल अनायास ही परमात्माकी प्राप्ति है । बुद्धिमें खूब अच्छी तरहसे यह निश्चय हो जाना चाहिये कि निराकार रूपमें सब जगह हमारे ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर समान भावसे केवल एक परमात्मा ही है ।

बुद्धिके इस निश्चयके अनुसार मनसे मनन करना—मनको भगवान्‌में लगाना है । इसका फल भी परमात्माकी प्राप्ति ही है ।

भगवान्‌को छोड़कर किसी भी पदार्थका चिन्तन करना अपने गलेमें फाँसी लगाकर मरनेके सदृश है; क्योंकि उससे हमारा मानव-जीवन नष्ट हो जाता है । मूल्यवान्-से-मूल्यवान् पदार्थका चिन्तन भी हमें भगवान्‌की प्राप्ति नहीं करा सकता । इसलिये बड़ी तत्परतापूर्वक ऐसा अभ्यास डालना चाहिये कि भगवान्‌को छोड़कर मन और किसी पदार्थके चिन्तनमें लगे ही नहीं । समय बड़ा मूल्यवान् है । मानव-जीवनके गिने-गिनाये श्वास हमें मिले हैं । लाख रुपये खर्च करनेपर भी उससे अधिक एक मिनटका समय भी नहीं मिल सकता । मानव-जीवनके एक क्षणकी कीमत भी नहीं आँकी जा सकती; क्योंकि भगवान्‌का चिन्तन करनेसे वह क्षण भगवान्‌की प्राप्ति करा सकता है; फिर समूचे मानव-जीवनकी तो बात ही क्या है । मानव-जीवनका यह महत्त्व इसीसे है कि वह भगवान्‌की प्राप्तिमें हेतु बन सकता है; अन्य किसी भी योनिमें यह सम्भव नहीं । अतएव मानव-जीवनके समयको खर्च करनेमें बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये । परमात्माके अतिरिक्त दूसरे कामोंमें समय लगानेवालोंको संतोंने 'मूर्ख' कहा है ।

सांसारिक पदार्थोंके संग्रहमें लगाया हुआ समय व्यर्थ है । मान लीजिये—एक महीनेमें हमारे लाख रुपयेका रोजगार होता है । बारह महीनोंमें बारह लाखका हुआ तो इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? रुपयोंकी थैलियाँ यहीं रह जायँगी, जीवको अकेले ही जाना पड़ेगा । हाँ, रुपयोंको बटोरनेमें जो पाप उसने किये हैं, वे अवश्य उसके साथ रहेंगे । अतएव रुपयेके संग्रहमें दो बातोंका ध्यान रखना चाहिये—न तो उसके संग्रहके लिये भगवान्‌को भुलावे और न उसके संग्रहमें पापका आश्रय ले । मरनेपर रुपयोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा । जैसे गधा मिट्टी ढो-ढोकर इकट्ठी करता है; भगवान्‌को भूलकर

रुपये बटोरना ठीक ऐसा ही है। मरनेपर मिट्टी न गधेके काम आती और न रुपया हमारे काम आता है! इस न्यायसे मनुष्य-जीवनका समय धन बटोरनेमें क्यों बरबाद किया जाय ?

कुछ भाई इस शरीरके पोषणमें समयको लगाते हैं। नाशवान् शरीरके पोषणमें समयका लगाना भी उसका अपव्यय है। विशेष खान-पान, सावधानी आदिसे शरीरमें दस सेर मांस बढ़ गया तो क्या हो गया; आखिर तो मरना ही पड़ेगा। शरीर अधिक भारी हो गया तो लाश (शव) भी भारी होगी। शव ढोनेवाले यही कहेंगे कि 'लाश बड़ी भारी है।' इस मोटापेसे और होगा क्या ? मोटे शरीरके जलनेपर एक-दो सेर राख अधिक हो जायगी। शवकी राख किस कामकी ? किसीकी आँखमें गिरकर वह उसको कष्ट ही दे सकती है। अतएव शरीरको अधिक पुष्ट करनेमें समयको लगानेमें कोई लाभ नहीं।

कुटुम्ब-पालनमें भी भगवान्‌को भूलकर ममता और रागसे युक्त हो समय नहीं लगाना चाहिये; क्योंकि कुटुम्बका राग तो और अधिक दुःख देनेवाला है। अनन्त कालसे कुटुम्ब हमको धोखा देता चला आ रहा है। आजसे पूर्व भी तो हमलोग किसी कुटुम्बके थे। क्या उसकी अब हमको कुछ स्मृति भी है ? अब हमें कुछ भी स्मरण नहीं है कि पूर्वजन्ममें हम कहाँ थे, हमारा कौन कुटुम्ब था। इसी प्रकार यहाँसे विदा होनेपर यह कुटुम्ब कहाँ-से-कहाँ चला जायगा, कुछ भी पता नहीं है। अतएव मृत्युके साथ जिससे बिल्कुल सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेवाला है, उस अपने कुटुम्बके प्रति मोह-ममता रखकर भगवान्‌को भुला देना और समयको उसके पालन-पोषणमें नष्ट कर देना मानव-जीवनका दुरुपयोग है।

यदि हम मकान बनवानेमें अपने समयको खर्च करते हैं और भगवान्‌को भूल जाते हैं तो यह भी मूर्खता है। मकान बनवा लिया तो न जाने उसका भोग कौन करेगा ? जिसको मकानकी आवश्यकता होगी, वह अपने-आप मकान बनवा लेगा। हम झूठ-साँच करके अपना अमूल्य मनुष्य-जीवन मकान बनानेमें क्यों लगायें ? इसी प्रकार संसारके अन्य पदार्थोंके विषयमें समझ लेना चाहिये। संसारमें जिन-जिन पदार्थों और व्यक्तियोंको हम अपना मान रहे हैं, वे हमारे नहीं हैं; उनसे हमारा वियोग अवश्यम्भावी है। अतएव उनके संग्रह-संरक्षणमें भगवान्‌को भुला देना उचित नहीं। अध्यात्म-दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले कर्मोंके अतिरिक्त सभी कर्म व्यर्थ अथवा अनर्थ हैं। यह मानव-जीवन आत्माके कल्याणके लिये ही मिला है, व्यर्थके भोग भोगनेके लिये नहीं। स्वर्गके भोगोंके लिये प्रयत्नशील होना भी व्यर्थ है—

'स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।' (मानस)

अतः आत्माके कल्याणमें सहायक होनेवाले कार्यके अतिरिक्त किसी भी कार्यमें लगना मूर्खता है। आयु क्षण-क्षणमें व्यतीत हो रही है। इसलिये जिस कामके लिये हमलोग आये हैं, उसको शीघ्र ही कर लेना चाहिये। कालका भरोसा नहीं है। एक क्षणके बाद क्या होनेवाला है, कोई नहीं बता सकता। ऐसी परिस्थितिमें एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को भूलना खतरेसे खाली नहीं है।

संसारके जिन-जिन पदार्थोंसे हमारा सम्बन्ध है, वे अवश्य बिछुड़नेवाले हैं। इस शरीरके सभी सम्बन्ध काल्पनिक और नाशवान् हैं, यों समझकर उनके प्रति मोह-ममताको पहलेसे समेट लें तो उत्तम है। हम विवेकपूर्वक ऐसा कर लेंगे तो मुक्त हो जायँगे और यदि साधन न करनेके कारण हमको विवश होकर इन सम्बन्धोंको तोड़ना पड़ा तो हम भटकते फिरेंगे। जो जन्मा है, उसे अवश्य मरना पड़ेगा। लाख प्रयत्न करनेपर भी मृत्युसे छुटकारा नहीं हो सकता। अतः जिस कामके लिये हम आये हैं, उसे अवश्य कर लेना चाहिये; नहीं तो आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि-धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

(मानस ७ । ४३)

'जो मनुष्य इस समय सचेत नहीं होता, उसको आगे चलकर सिर धुन-धुनकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। वह मूर्ख उस समय काल, कर्म और ईश्वरपर झूठा दोष लगायेगा।' वह यही कहेगा—'कलियुगके कारण मैं अपने आत्माका कल्याण नहीं कर सका। मेरे कर्म ही ऐसे थे, मेरे भाग्यमें ऐसी ही बात लिखी थी। ईश्वरने मेरी सहायता नहीं की, आदि-आदि।' उसका यह रोना व्यर्थ है—मिथ्या है। अतएव अभीसे सावधान हो जाना चाहिये।

परमात्माकी प्राप्ति स्वयं अपने किये ही होगी। कोई दूसरा हमारे लिये इस कार्यको नहीं कर सकेगा। संसारका कोई काम बाकी रह गया तो हमारे पीछे हमारे उत्तराधिकारी अथवा दूसरे लोग उसे कर लेंगे; पर परमात्माकी प्राप्तिमें यदि त्रुटि रह गयी तो हमको पुनः जन्म लेना पड़ेगा। अतएव जो काम हमारे किये ही होगा, दूसरेसे नहीं और जिसे करना अनिवार्य है, उसीमें समय लगाना चाहिये।

संसारके सब सम्बन्ध मिथ्या हैं, स्वप्नवत् हैं, मायामात्र हैं। स्वप्नके संसारमें जो कुछ होता है, सब सत्य प्रतीत होता है; परंतु वास्तवमें उसकी सत्ता नहीं। आँख खुलनेपर न तो वह संसार रहता है, न शरीर और न वह व्यवहार ही। इसी प्रकार संसारके जितने भी सम्बन्ध हैं, ये सब शरीरको लेकर ही हैं। शरीर शान्त होनेपर इनसे हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जायगा। इसलिये आवश्यकता है कि इन सम्बन्धोंका त्याग हम मनसे पहलेसे ही कर दें, जिससे आगे चलकर पश्चात्ताप न हो।

जबतक मानव-जीवन शेष है, तबतक सब कुछ हो सकता है। परमात्माकी शरण लेकर मनुष्य जो चाहे, वह प्राप्त कर सकता है। 'कठोपनिषद्'में यमराजने नचिकेताके प्रति यह बात कही है कि "नचिकेता! 'ॐ' जो परमात्माका नाम है, यही साक्षात् ब्रह्म है, यही सगुण और निर्गुण है। इसकी शरण जानेपर जो चाहो, वही मिल सकता है।" अतएव हम भी भगवान्की शरण लेकर जो चाहें, वही प्राप्त कर सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि भगवान्की प्राप्तिके सिवा अन्य कोई भी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। दूसरी किसी भी वस्तुकी इच्छा रखना मूर्खता है। जगत्की जितनी भी वस्तुएँ हैं, सब प्रारब्धके अधीन हैं। कोई चाहे कि मैं १०० वर्ष जीता रहूँ तो प्रारब्ध बिना हुए यह असम्भव है। इसी प्रकार कोई यह चाहे कि अभी मृत्यु आ जाय तो चाहनेसे मृत्यु भी नहीं मिल सकती। जब, जैसा प्रारब्ध होगा, वैसा ही होगा। अतएव इच्छा करना मूर्खता है। इसी प्रकार भोग-पदार्थोंकी प्राप्तिके विषयमें समझना चाहिये। प्रारब्धवश जब, जितना मिलना है, उतना ही मिलेगा; इच्छा करनेसे नहीं।

भगवान्की प्राप्ति इच्छासे होती है। इच्छा जहाँ यथेष्ट तीव्र एवं अनन्य हुई कि भगवान् मिले। भगवान्को छोड़कर अन्य कोई भी पदार्थ हमारी इच्छापर निर्भर नहीं है। जगत्के सभी प्राणी चाहते हैं कि सुख मिले, दुःख नहीं; किंतु अधिकांशको दुःखकी ही उपलब्धि होती है। अतएव जड पदार्थोंके लिये इच्छा करना मूर्खता है। इच्छा करनेसे जड पदार्थ प्राप्त नहीं होते; उनके लिये पूर्वकृत कर्मोंका फलरूप प्रारब्ध चाहिये; और वह अब हमारे हाथमें नहीं। पर भगवान्के लिये तीव्र इच्छा करनेपर वे अवश्य मिल सकते हैं। अतः भगवान्को प्राप्त करनेकी इच्छा करनी चाहिये और उसे यथेष्ट तीव्र एवं अनन्य बनानेका प्रयत्न करना चाहिये।

सबसे सगे भगवान्

(अनन्तश्रीविभूषित स्वामी करपात्रीजी महाराज)

जीवात्मा सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका अंश है । जैसे घटाकाश, महाकाश, शरावाकाशके भीतर, बाहर और मध्यमें महाकाश; कटक, मुकुट, कुण्डल आदिकोंके भीतर, बाहर और मध्यमें सुवर्ण; और तरंगके भीतर, बाहर एवं मध्यमें जल विद्यमान है, वैसे ही चेतन, अमल, सहज, सुखराशि जीवात्माओंके भीतर, बाहर और मध्यमें सच्चिदानन्द परमात्मा विद्यमान है । इस दृष्टिसे जीवात्मा भगवान्का पुत्र, अंश एवं स्वरूप है । जैसे शूकर-कूकरके बच्चे शूकर-कूकर होते हैं, सिंहके बच्चे सिंह होते हैं, वैसे ही **'अमृतस्य पुत्राः'**, **'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५ । ७) इत्यादि श्रुति-स्मृतिके अनुसार भगवान्का पुत्र या अंश जीवात्मा भगवान्का स्वरूप ही सिद्ध होता है । जैसे निर्मल जल पृथ्वीपर पड़ते ही मलिन हो जाता है, वैसे ही शुद्ध चिदात्मा मायाके संसर्गसे मलिन हो जाता है । भगवान् जीवोंके परम अन्तरङ्ग और घनिष्ठ सम्बन्धी हैं । संसारकी सब वस्तुओंका वियोग अनिवार्य है । कलत्र, पुत्र, मित्र, क्षेत्र आदि सभी वस्तुओंके साथ जीवात्माका सम्बन्ध गौण ही है, मुख्य सम्बन्ध तो भगवान्का ही है । जीवात्मा स्वर्ग-नरक, जहाँ भी जाय, भगवान् ही उसके साथ होते हैं, अन्य सभी लोग इससे सम्बन्ध तोड़ लेते हैं । अघासुरके मुखमें ग्वाल-बाल प्रविष्ट हो गये; उसके विषसे उन्हें जलते हुए देखकर प्रभु श्रीकृष्ण भी उसके मुँहमें प्रविष्ट हो गये । संसारमें है किसीकी प्रीति या शक्ति ऐसी, जो एक साँपके मुखमें पड़े पुत्र या मित्रके साथ स्वयं भी उसमें प्रविष्ट हो जाय ? किसी स्त्रीका पुत्र कूपमें गिरता है । वह कूपके तटपर खड़ी होकर चिल्लाती है—'दौड़ो, दौड़ो, बच्चेको निकालो'; पर कूपमें उतरनेकी हिम्मत उसकी नहीं होती; फिर साँपके मुखमें प्रविष्ट होनेको कौन तैयार रहेगा ?

गाढ़-से-गाढ़, विषम-से-विषम स्थानोंमें जीवात्माका साथी भगवान् ही है । माँके पेटमें, विभिन्न योनियोंमें, नरकमें, किं बहुना, जहाँ भी जीवात्माको जाना होता है, भगवान् वहीं जाते हैं । जैसे महाकाश घटाकाशका, जल तरंगका सङ्ग नहीं छोड़ सकता, वैसे ही भगवान् जीवात्माका सङ्ग नहीं छोड़ते । जब जीवात्मा अपने असली सम्बन्धी भगवान्को भूलकर नकली सम्बन्धियोंके मायाजालमें फँस जाता है, तभी माया उसे दुःख-महोदधिमें डालकर उसके मस्तिष्कको ठिकाने लानेका प्रयत्न करती है । जब प्राणी यहाँतक उन्मादी बन बैठता है कि ईश्वर और धर्मको अनावश्यक समझने लगता है, भगवान्के ही बनाये दिल-दिमागसे अपनी वैज्ञानिक चमत्कृतियोंपर मुग्ध होकर कहता है कि 'वैज्ञानिक दृष्टिसे पार्थिवादि प्रपञ्चों या प्रकृतिसे ही सम्पूर्ण काम सिद्ध हो जाते हैं; ईश्वर और धर्म तो केवल झगड़ेकी जड़ है या भीरु प्राणियोंके मनका एक वहम है, तब कहीं व्यापक भूकम्पोंद्वारा, कहीं महामारियोंद्वारा, कहीं प्राकृतिक विकट तूफानों या विश्वव्यापी नरसंहारोंद्वारा प्राणियोंको वह माया परमात्माका स्मरण दिलाती है । फिर भी जैसे कल्याणमयी, करुणामयी, पुत्रवत्सला अम्बा अपने शिशुओंका कभी भी अहित नहीं चाहती, वैसे ही प्रभु भी कभी भी प्राणियोंका अहित नहीं चाहते । तभी तो वे निरीश्वरवादी प्राणियोंका भी कल्याण चाहते हैं; उनपर भी वे कुपित नहीं होते । इसी आशापर तो ब्रह्माजीने कहा था कि 'हे नाथ ! यद्यपि मैंने आपकी कौतुकपूर्ण क्रीड़ामें विघ्न डाला, आपके बछड़ों और ग्वाल-बालोंका हरण करके बड़ा ही अपराध किया, तथापि प्रभो ! जैसे अम्बा गर्भगत शिशुके पैर चलानेको अपराध नहीं मानती, वैसे ही आप हमारे ऐसे कर्मोंपर ध्यान न दें । प्रभो ! सम्पूर्ण विश्व ही आपके उदरमें है; फिर गर्भगत शिशुके समान ही प्राणियोंके अपराधोंको क्षमा करना क्या उचित नहीं है ?'

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः
किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं
तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥
(श्रीमद्भागवत १० । १४ । १२)

प्रभुने ब्रह्माजीको क्षमा भी कर दिया। उन्होंने शास्त्रोंद्वारा सरल-से-सरल उपाय बता रखा है—पत्र, पुष्प, फल, जल, नमस्कार मात्रसेही वे प्रसन्न हो सकते हैं। कुछ भी न हो तो केवल मनसे ही पूजन-स्मरण; और वह भी न बने तो भाव-कुभाव, जिस-किसी तरह भगवान्के नाम-जपसे ही परमगति प्राप्त हो सकती है। जब एक अदृष्ट तत्त्वकी ओर, जो वस्तुतः सबका द्रष्टा या असली स्वरूप है, विश्वास होगा, तब सम्पूर्ण दुनियाके सम्बन्ध—नाते अपने-आप फीके लगने लगेंगे। कलत्र,मित्र,पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, क्षेत्र, वित्त आदि सभी सांसारिक वस्तुओंका सम्बन्ध केवल स्थूल-देहके साथ ही है। उसके नष्ट होते ही वे सब सम्बन्ध अपने-आप ही छूट जाते हैं—

यत्प्रातः संस्कृतं चान्नं सायं तच्च विनश्यति।
तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता॥
(पाद्मीय भागवत-माहात्म्य ५ । ६१)

'जो अन्न प्रातःकाल पकाया जाता है, वह सायंकालतक बिगड़ जाता है; फिर उसीके रससे पुष्ट हुए शरीरकी नित्यता कैसी?' फिर ऐसे विनश्वर, क्षणभङ्गुर शरीरका आत्माके साथ कहाँतक सम्बन्ध रह सकता है? एक जन्मकी बात कौन कहे, जन्म-जन्मान्तरों, युग-युगान्तरों, कल्प-कल्पान्तरोंके देहों एवं तत्सम्बन्धी पुत्र-पौत्र-कलत्रोंका स्मरण करें तो चित्तकी क्या दशा होगी? यही समझकर भगवदाद्य श्रीशंकराचार्यचरणोंने कहा था—

कति नाम सुता न लालिताः
कति वा नेह वधूरभुञ्जि हि।
क्व नु ते क्व च ताः क्व वा वयं
भवसङ्गः खलु पान्थसंगमः॥
(श्रीशंकरदिग्विजय ५ । ५३)

'जन्म-जन्मान्तरोंमें कितने ही पुत्रोंका लालन नहीं किया, कितनी सुन्दरी रमणियोंका संस्पर्श नहीं किया; परंतु आज कहाँ वे पुत्रादि, कहाँ वे रमणियाँ, कहाँ हम सब? यह संसारका संगम केवल यात्रियोंके सङ्गके समान ही अस्थिर है।' स्थिर सम्बन्ध तो एकमात्र भगवान्का ही है, जो स्वर्ग-नरक, कहीं भी जीवका सङ्ग नहीं छोड़ते। जीवात्मा और परमात्मा, दोनों ही एक शोभन पङ्खवाले सुपर्ण पक्षी हैं; दोनों सुपर्ण एक जातिके पक्षी हैं, इसलिये भी उन दोनोंका आपसमें मुख्य सम्बन्ध है। साथ ही दोनोंकी परस्पर पूर्ण मैत्री है। परमात्मा पालक सखा है, जीवात्मा बालक सखा; दोनोंकी ही 'चेतन, अमल, सहज सुख-राशिरूप' से ख्याति भी है। कहीं साजात्य एवं सख्य सम्बन्ध होनेपर भी दुर्दैवयोगसे भिन्न देश रहनेके कारण सम्बन्ध कमजोर हो जाता है; परंतु यहाँ तो एक ही शरीररूप वृक्षपर जीवात्मा-परमात्मा दोनों ही पक्षी रहते हैं। अतः साजात्य, सख्य, सादेश्य—तीनों तरहके सम्बन्ध दृढ़ हैं। यद्यपि भगवान् जडवर्गसे सर्वदा असंस्पृष्ट और निर्लेप ही रहते हैं, तथापि चिद्रूप जीवात्माके साथ तो भगवान्का तादात्म्य या अभेद सम्बन्ध रहता है। अतः साजात्य, सख्य, सादेश्यके समान ही सायुज्य भी सर्वदा ही रहता है। जैसे कभी घटाकाश महाकाशसे वियुक्त नहीं होता, तरंग जलसे पृथक् नहीं होती, घट-शरावादि मृत्तिकासे वियुक्त नहीं होते, कटक-मुकुटादि सुवर्णसे पृथक् नहीं होते, वैसे ही जीवात्मा कभी भी भगवान्से पृथक् नहीं होता; किंतु अपने असली सम्बन्धी भगवान्को भूल जानेसे ही प्राणी अनेकानर्थ-परिप्लुत भवाटवीमें भटकता और दुःख पाता है। जब और जहाँ कहीं भी वह सावधान होकर भगवान्की ओर दृष्टि करता है, प्रभु उसपर पूर्ण कृपा करके उसे अपना लेते हैं।

अनन्य शरणागति—सर्वस्व-समर्पण

(लेखक—स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

'आराधना'का वास्तविक अर्थ है—अन्तःकरणकी ललक। प्रत्येक मनुष्य कुछ-न-कुछ पानेके लिये आतुर है। कोई धनके लिये आकुल है, कोई पदके पीछे पागल है, कोई प्रतिष्ठाके पीछे पड़ा हुआ है और कोई स्त्रीके लिये आतुर है। ऐसा तो कोई भी दिखायी नहीं देता, जिसे कोई आकुलता नहीं है; जो अपनेमें ही संतुष्ट है अथवा जिसे सब कुछ प्राप्त है।

इसका कारण क्या है? जीव स्वभावसे ही सीमित शक्ति और साधन-सामग्री लेकर इस अवनीतलमें आया है; किंतु वह है एक असीम और परिपूर्ण शक्तिका अंश। अतः असीमसे अभिन्न होनेकी लालसा उसमें स्वभावसे ही है। अज्ञानवश इस पार्थिव शरीरमें उसका अभिनिवेश हो गया है; अतः जो वस्तुएँ उसके उपयोगमें आती हैं, उन्हींमें भ्रान्तिवश उसे अपनी पूर्ति जान पड़ती है। परंतु इन सीमित और विनाशशील पदार्थोंसे किसीको कैसे पूर्णता प्राप्त हो सकती है? जो स्वयं एक दिन कालका ग्रास बन जानेवाली हैं, वे कैसे किसीकी जीवन-लालसाको पूर्ण कर सकती हैं; जो स्वयं सातिशय हैं, उनसे किस प्रकार किसीको निरतिशय सुख प्राप्त हो सकता है और जो स्वयं जड हैं, उनसे कैसे किसीको चैतन्यकी प्राप्ति हो सकती है?

इस प्रकार इस भोग-लालसाके रूपमें आराधना तो मानव-हृदयको स्वभावसे ही प्राप्त है; परंतु उसका लक्ष्य भ्रान्तिपूर्ण है। इसीलिये सारा जीवन इधर-उधर भटकते हुए ही व्यतीत हो जाता है। इसमें संदेह नहीं कि भोग्य पदार्थ भी मनुष्यके लिये ही बने हुए हैं और शरीरको इनकी आवश्यकता है। परंतु शरीर सीमित है और सीमित भोग ही उसके लिये उपयोगी भी हैं। भोगोंकी बहुलता तो उसके लिये व्यर्थ भार ही है। फिर उनके लिये आकुलता क्यों? शरीरके लिये उपयोगी सीमित भोग तो प्राकृतिक विधानसे स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं और असीम मिल ही नहीं सकते; फिर यह दौड़-धूप क्यों?

अतः भाई! इस ओरसे अपना मुँह मोड़ो। बाहरकी ओर भटकना छोड़कर भीतरकी ओर झाँको; विषयोंसे विमुख होकर अपने सच्चे प्रियतमकी झाँकी करो। वे तुम्हारे ही अन्तःकरणमें उसके साक्षी होकर विद्यमान हैं और वे ही वास्तवमें इसके प्रेरक भी हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् स्वयं ही कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(१८। ६१)

'अर्जुन! भगवान् समस्त प्राणियोंके हृदय-देशमें विराजमान हैं और समस्त प्राणियोंको अपनी मायासे इस प्रकार घुमा रहे हैं, जैसे यन्त्रपर चढ़े हुए जीवोंको यन्त्री घुमाता है।'

आप सोचते होंगे कि कर्म करनेमें तो हम स्वतन्त्र ही हैं और यदि कर्म करेंगे तो उसका फल भी प्राप्त होगा ही। देहाभिमानके रहते हुए ऐसा सोचना स्वाभाविक ही है; परंतु यदि किंचित् गम्भीरतासे विचार करें तो स्पष्ट दीखेगा कि फल-प्राप्तिमें तो आप परतन्त्र हैं ही। आपका बड़े-से-बड़ा उद्योग भी कई बार असफल हो जाता है और कभी-कभी अनायास ही आपको अभीष्ट वस्तु प्राप्त हो जाती है। पर वास्तवमें तो कर्म करनेमें भी आप स्वतन्त्र नहीं हैं। यह तो निश्चय ही है कि कोई भी कर्म करनेसे पहले उसका संकल्प होता है; बिना संकल्पके कोई काम नहीं होता। और संकल्प किया नहीं जाता, स्वयं होता है। यदि संकल्प करनेमें आपकी स्वतन्त्रता है तो आप

क्या यह बता सकते हैं कि पाँच मिनट पश्चात् आप क्या संकल्प करेंगे ? यदि आप इसका दावा नहीं कर सकते तो आपकी कर्ममें स्वतन्त्रता भी कैसे सिद्ध हो सकती है ?

परंतु यह देहाभिमान ऐसी आपदा है कि इसके रहते हुए मनुष्य यह सोच ही नहीं पाते कि उसकी गति-विधियोंका विधायक भी कोई और है और जो सम्पूर्ण प्रपञ्चका संचालक है, उसीके इङ्गितपर यह भी नाच रहा है। इसीसे शास्त्रकारोंने भी कर्म करनेमें जीवकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली है। इस कर्तृत्वाभिमानके कारण ही मनुष्यके लिये शास्त्रीय विधि-निषेधकी व्यवस्था है और इसके रहते हुए ही उसे जन्म-जन्मान्तरोंमें नाना प्रकारकी योनियोंमें जाकर सुख-दुःख भोगना पड़ता है। यदि किसी प्रकार वह देहाभिमानसे छुटकारा पा ले तो न उसके लिये कोई विधि रहती है और न भोग ही। अतः देहाभिमानसे छूटना ही जीवका परम पुरुषार्थ है और तभी वह सब प्रकारकी कामना और वासनाओंसे मुक्त हो सकता है; क्योंकि भोग शरीरके द्वारा ही होता है और भोग-लालसा ही तरह-तरहकी कामना-वासनाओंके रूपमें उसे विक्षिप्त रखती है।

देहाभिमानसे छूटनेके दो ही साधन हैं—या तो विवेकवती बुद्धिके द्वारा देहादि दृश्य पदार्थोंसे असङ्ग होकर अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हो जाय अथवा अपनी असमर्थता और अज्ञताकी वेदनासे व्यथित होकर सब ओरसे निराश हो शरणागतवत्सल प्रभुके परमपावन पादारविन्दोंकी शरण हो जाय। एकके द्वारा अपनेसे भिन्न किसीकी सत्ता ही नहीं रहती और दूसरेकी दृष्टिमें प्रभुसे भिन्न अपना कोई अस्तित्व नहीं रहता। अतः दोनोंमें ही पूर्णता है और पूर्णतामें ही कृतकृत्यता है। जो प्रभुके शरणागत हो जाता है, वे उसके सभी पाप-तापोंको शान्त करके उसे अभयपदपर प्रतिष्ठित कर देते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें अपनी अमृतवर्षिणी वाणीसे अभय प्रदान करते हुए उन्होंने कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८।६६)

'अर्जुन! तू सारे धर्मोंको छोड़कर एकमात्र मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सारे पापोंसे मुक्त कर दूँगा; चिन्ता न कर।'

इससे अधिक अभयदान और क्या होगा ! जिसने अपनेको प्रभुके चरणोंमें समर्पित कर दिया, उसे क्या भय रहा। उसकी जीवन-नौकाका डाँड तो सर्वसमर्थ श्रीश्यामसुन्दरके हाथोंमें है। वह तो निश्चय ही भव-सागरसे पार हो जायगा। अब उसका कुछ भी नहीं रहा। अपना तन-मन-धन—सभी कुछ वह अपने प्रियतमके चरणोंमें समर्पित कर चुका है। अपनेमें उसका अपना कुछ नहीं है। अतः अब उसके द्वारा जो कुछ होता है, वह प्यारेकी ही मधुर लीला होती है। वे जैसे नचाते हैं, वह वैसे ही नाचता है। उनके नित्य नूतन लास्यका वह भी एक अभिनेता है। अतः वह सर्वथा निश्चिन्त है और उसे कुछ भी पाना शेष नहीं है।

यह शरणागति ही आराधनाका अन्तिम सोपान है। इसीके द्वारा उसे अपने परमाराध्य प्रियतमकी प्राप्ति होती है। जबतक अपने पास अपना कुछ भी रहता है, तबतक सर्वस्व-समर्पण नहीं होता; और सर्वस्व समर्पित हुए बिना सीमाकी समाप्ति नहीं होती। अतः सब प्रकारकी सीमाओंको तोड़कर उस अनन्तके शरणागत होनेपर ही अनन्तकी उपलब्धि होती है और फिर किसी प्रकारका अभाव शेष नहीं रहता। जीवन प्रभु-प्रेमसे परिपूर्ण हो जाता है और सभी अभावोंका अभाव हो जाता है।

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)के अमृत-वचन]

उनकी चाह ही हमारी चाह बन जाय

होगा वही, जो भगवान्‌को स्वीकार होगा। अपने तो उनकी हाँ-में-हाँ मिलाते रहें। हम अपनी अलग चाह रखते हैं, इसीसे हमें उद्वेग होता है। उनकी चाह ही हमारी चाह बन जाय तो फिर उस चाहके रूपमें भी उन्हींका मधुरतम स्पर्श प्राप्त होता रहेगा। सदा-सर्वत्र उनकी लीला हो रही है। कहीं भूकम्प आता है, कहीं बाढ़ आती है, कहीं अनावृष्टि होती है--यह सब उन्हींकी लीला है। हजारों-लाखों आदमी इस प्रकार परेशान हो जाते हैं। हमारी-तुम्हारी परेशानी ऐसी परेशानियोंके सामने कोई चीज नहीं है। पर यह सभी उनकी लीलाके स्वाँग हैं। इन सबसे छिपे हुए उनके नित्य मुस्कराते मुखारविन्दको देख-देखकर निहाल होते रहना चाहिये। कर्तव्यके नाते—स्वाँगके अनुसार निज दुःखमें दुःखकी विस्मृति—दुःखका अभाव समझना चाहिये और दूसरोंके दुःखमें दुःखका अनुभव करके यथासाध्य यथाप्राप्त उन्हींकी वस्तुओंके द्वारा उन्हींकी सेवा करनेकी लीला करनी चाहिये। परंतु होनी चाहिये लीला और लीला-नटवर—सूत्रधार भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये—उन्हींकी आज्ञा या प्रेरणाके अनुसार। तुम अपने जीवनमें इसी भावका प्रयोग करो।

किसीके दोषोंको न देखो, न कहो !

कभी किसीके दोषोंको न देखो, न कहो, न उनका मनसे चिन्तन करो। दूसरोंके छोटे-से-छोटे गुणको भी देखो और उसके लिये उनको आदर देकर—उनकी प्रशंसा करके उस गुणकी वृद्धिमें हेतु बनो। सदा मङ्गल सोचो तथा मङ्गल ही करो। दैवी सम्पदाका विस्तार हो, इसके लिये मनसे एवं क्रियारूपमें चेष्टा करो। कभी किसीके चित्तको दुःखी न करो, कभी किसीका अपमान न करो। प्राणीमात्रमें एक ही भगवान् नित्य विराजित हैं; उनके दर्शन करके सदा सबका सम्मान करो—

करो न पर-दोषोंका चिन्तन-कथन कभी भी, किसी प्रकार।
करो न कुछ तन-मन-वाणीसे कभी किसीका भी अपकार॥
देखो थोड़े-से गुणको भी, उसे बढ़ाओ कर सत्कार।
प्रोत्साहन दो निज-परकी शुभ वृत्तिमात्रको सभी प्रकार॥
मङ्गल ही सोचो नित मनमें, करो सभी मङ्गल-आचार।
सोचो-करो वही, जिसमें हो दैवी सम्पदका विस्तार॥
कभी किसीका जी न दुखाओ, दो न किसीको भी दुत्कार।
सबमें सदा विराजित ईश्वर, देखो उसे, करो सत्कार॥

प्रतिकूलता हमारे यथार्थ मङ्गलके लिये आती है

तुम मनमें बहुत प्रसन्न रहना। लोगोंकी मूर्खतापूर्ण बातोंका तुम्हारे मनपर कोई असर नहीं होना चाहिये। लोगोंकी बातोंसे तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगड़ता। अपने मनसे सबका हित, सबका सुख चाहना और किसीसे भी सुखकी आशा न रखकर अपने स्वात्मसुख या भगवत्सुखमें सुखी रहना चाहिये। विषाद-दुःख न करके मनमें साहस, धैर्य और संतोष रखना चाहिये। संसारका यही स्वरूप है, यहाँ अपना कोई

नहीं है । नाटकके पात्रकी तरह बिना लाग-लपेटके केवल खेलके नाते ही सम्बन्ध तथा क्रिया करनी चाहिये । अपनी ओरसे विनयका बर्ताव करना चाहिये तथा कभी भी दुःखी होकर साहस-धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये ।

परिवारवालोंद्वारा जो प्रतिकूलता मिल रही है, वह भगवान्‌के मङ्गल-विधानसे तुम्हारे यथार्थ मङ्गलके लिये ही हो रहा है । इसका फल वास्तवमें तुम्हारे परम कल्याणका स्वरूप होगा । भगवान्‌को सदा याद रखते हुए मनमें खूब प्रसन्न रहना चाहिये । इन बातोंको देखकर मन-ही-मन हँसना तथा जगत्‌से विराग करना चाहिये ।

दुःखमें भी उनकी मधुर मुसकान दिखायी दे

वास्तवमें तुम जगत्‌के दुःखको दुःख मत मानो । तुमने लिखा कि 'भगवान्‌के सौहार्द एवं कृपाके सहारे जी रहा हूँ ।' सो भगवत्कृपाका सहारा तो है ही और वही सर्वोत्तम सुदृढ़ सहारा है । परंतु भगवत्कृपाका सहारा और भगवान्‌पर विश्वास तो ऐसा होना चाहिये कि दुःखमें, प्रतिकूलतामें भी सुखका और अनुकूलताका अनुभव हो । दुःखके भयानक स्वाँगमें भी उनकी मधुर-मधुर मुसकान दिखायी दे और वह तुम्हारे मनको प्रसन्नतासे भर दे । विरोधी तुम्हारा नाम-निशान मिटाना चाहते हैं, सो बहुत अच्छी बात है । जगत्‌में तो नाम-निशान मिटना ही चाहिये । यहाँका सर्वनाश ही वहाँके मङ्गलमय जीवनका सुप्रभात होगा । अवश्य ही, जो तुम्हारे लिये ऐसा चाहते हैं, उनपर भगवान् दया करें; उनके अपराध क्षमा करें ।

जो स्थिति है, उसीको भगवान्‌की मङ्गलमयी कृपा तथा प्रीति समझकर ठीक मानना चाहिये और उसीमें संतुष्ट रहना चाहिये । स्थिति क्यों बदले ? हमारे प्राणनाथ प्रभु हर स्थितिमें हमारे साथ हैं, बस, यह अनुभव होता रहे । फिर हर स्थितिमें आनन्द रहेगा ।

अपनेको सदा भगवान्‌का मानो !

अपनेको कभी भी अपना न मानकर सब प्रकारसे सदा ही भगवान्‌का मानना चाहिये । जीवन-मरण, सुख-दुःख, सभी भगवान्‌के केवल खेल हैं—इस प्रकार निश्चय होनेपर किसी भी अवस्थामें दुःख नहीं होगा और नित्य परम मधुर भगवत्प्रेमका रसास्वादन चलता रहेगा । जितनी ही हम अपने मनसे अपनी बात सोचेंगे, उतनी ही चिन्ता-पीड़ा बढ़ेगी । अपने चिन्तन करनेकी यदि कोई चीज मानी जाय तो वह केवल भगवच्चरणारविन्द ही हैं । अतएव सदा मनमें बहुत प्रसन्न रहना चाहिये ।

मङ्गलमयके मङ्गल विधानपर विश्वास करो !

जो रचा गया है, वही होगा । हमारी सीमित दृष्टिसे मनके प्रतिकूल होनेपर हम अमङ्गलकी कल्पना करते हैं । हम केवल शरीरको ही देखते हैं, मङ्गलमय भगवान् शरीरको नहीं देखते; वे हमको—चेतनको देखकर हमारे यथार्थ मङ्गलके लिये जो उचित होता है, उसीका विधान करते हैं । वह हमारा यथार्थ मङ्गल जन्म-मृत्यु, लाभ-हानि, सुख-दुःख, मान-अपमान, धन-दरिद्रता आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता; ये द्वन्द्व कैसे भी रहें । इसीसे भगवान्‌में विश्वास करनेवाले भक्त न प्रतिकूलकी प्राप्ति और न अनुकूलके नाशसे द्वेष करते हैं और न अनुकूलकी प्राप्ति और प्रतिकूलके नाशमें हर्षित होते हैं । न अनुकूलके नाश तथा प्रतिकूलके प्राप्त होनेकी चिन्ता करते हैं और न अनुकूलकी प्राप्ति और प्रतिकूलके नाशकी आकाङ्क्षा ही करते हैं—'यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।' (गीता १२ । १७) वे शुभ-अशुभ—दोनोंमें ही मङ्गलमय

भगवान्‌की मङ्गलमयी व्यवस्था देखकर प्रसन्न रहते हैं और प्रेमीजन तो प्रियतमकी मुसकानपर ही न्योछावर रहते हैं। वे शुभ-अशुभकी कल्पना करते ही नहीं; प्रियतमके सुखका सम्पादन ही उनका स्वभाव होता है।

प्रियतमकी हाँ-में-हाँ मिलाते रहें !

संसारमें जन्म-मृत्युका चक्र चलता रहता है। सृजन और संहार ही संसारका स्वरूप है। यह तो खेल है—चलता ही रहेगा; अतएव चिन्ता नहीं करनी चाहिये। किसीके दुःखमें सहानुभूति प्रकट करना तो ठीक है, पर चिन्ता-शोक ठीक नहीं। स्वजन आदिकी बीमारीकी अवस्थामें इलाज, सेवा-व्यवस्थामें जरा भी कमी न रहे, बचाने तथा सुख पहुँचानेकी हृदयसे चेष्टा हो; पर यदि शरीर न रहे तो फिर चिन्ता-शोक न करे।

प्रियतमकी ही हाँ-में-हाँ मिला दे। सेवा, इलाज-व्यवस्था भी प्रियतमकी प्रसन्नताके लिये ही हो, ममताको लेकर नहीं। अपनी सारी ममता-आसक्तिके विषय तो एकमात्र वे ही प्रियतम श्रीकृष्ण हैं और उनसे कभी वियोग होनेकी सम्भावनाकी भी कल्पना नहीं।

एकमात्र भगवान् ही तुम्हारे हैं

भगवान्‌की स्मृति तथा उनके सांनिध्यकी अनुभूति सदा रहनी चाहिये। तुम सर्वथा एकमात्र भगवान्‌के हो और एकमात्र भगवान् ही पूर्णरूपसे तुम्हारे हैं—यह अटल निश्चय रखना चाहिये तथा इसका अनुभव भी करते रहना चाहिये।

श्रीराधा-माधव-प्रेमोदधिकी दो भाव-ऊर्मियाँ

श्रीराधा-माधव-प्रेमोदधि अनन्त एवं अपरिसीम है। उसमें नित्य-निरन्तर नूतन सौन्दर्य-माधुर्यसे परिपूर्ण भाव-ऊर्मियाँ हिलोरें लेती रहती हैं। श्रीराधा-माधवकी कृपाको प्राप्त करनेकी कामनावाले भक्तोंको चाहिये कि वे उन भाव-ऊर्मियोंका आस्वादन करते रहें। यहाँ दो पद दिये जा रहे हैं; एकमें श्रीकृष्णका श्रीराधाके प्रति प्रेम-निवेदन है और दूसरेमें श्रीराधाका श्रीकृष्णके प्रति। इन पदोंमें प्रेमिगत दैन्य और प्रेमास्पदकी महत्ता देखने योग्य है।

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

हे आराध्या राधा ! मेरे मनका तुझमें नित्य निवास।
तेरे ही दर्शन कारण मैं करता हूँ गोकुलमें वास ॥

हे आराध्या राधे ! मेरा मन सदा—दिन-रात तुझीमें बसा रहता है। मुझको तेरा दर्शन मिलता रहे, इसी लोभसे मैं गोकुलमें बस रहा हूँ।

तेरा ही रस-तत्त्व जानना, करना उसका आस्वादन।
इसी हेतु दिन-रात घूमता मैं करता वंशीवादन ॥

तेरे ही रसके तत्त्वको जानने और उसका आस्वादन करनेके लिये मैं बाँसुरी बजाता रात-दिन इधर-उधर घूमता फिरता हूँ।

इसी हेतु स्नानको जाता, बैठा रहता यमुना-तीर।
तेरी रूप-माधुरीके दर्शनहित रहता चित्त अधीर॥

इसीके लिये मैं स्नान करनेको यमुनापर आया करता हूँ और उसके तटपर बैठा रहता हूँ। तेरी रूप-माधुरीका दर्शन करनेके लिये मेरा चित्त अधीर—उतावला रहता है।

इसी हेतु रहता कदम्बतल, करता तेरा ही नित ध्यान।
सदा तरसता चातककी ज्यौं, रूप-स्वातिका करने पान॥

इसी कारण मैं कदम्बके नीचे अवस्थित रहता हूँ और नित्य तेरा ही ध्यान—तेरा ही चिन्तन करता रहता हूँ। तेरी रूपछटा-रूप-स्वातिके जलका पान करनेके लिये मैं पपीहेकी भाँति सदा तरसता रहता हूँ—लालायित रहता हूँ।

तेरी रूप-शील-गुण-माधुरि मधुर नित्य लेती चित चोर।
प्रेमगान करता नित तेरा, रहता उसमें सदा विभोर॥

तेरे रूप, शील-स्वभाव तथा गुणोंकी मोहक मधुरता बरबस मेरे चित्तको चुरा लेती है। इसीसे मैं नित्य तेरे प्रेमके गीत गाता हुआ सदा उसीमें तन्मय रहता हूँ।

श्रीकृष्णके इस प्रेम-निवेदनको सुनकर श्रीराधा कहती हैं—

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

मेरी इस विनीत विनतीको सुन लो, हे व्रजराजकुमार।
युग-युग, जन्म-जन्ममें मेरे तुम ही बनो जीवनाधार॥

मेरी इस विनीत प्रार्थनाको, हे व्रजराजकुमार! तुम ध्यान देकर सुन लो। युग-युगान्तरमें, जन्म-जन्ममें तुम्हीं मेरे जीवनके आधार बने रहो—यही मैं चाहती हूँ।

पद-पङ्कज-परागकी मैं नित अलिनी बनी रहूँ, नँदलाल!
लिपटी रहूँ सदा तुमसे मैं, कनकलता ज्यों तरुण तमाल॥

तुम्हारे चरण-कमलोंके परागकी, हे नन्दलाल! मैं नित्य भ्रमरी बनी रहूँ—उन चरणोंपर मँडराती डोलूँ। इतना ही नहीं, जैसे कोई सोनेकी बेल नवीन तमालके वृक्षसे सदा लिपटी रहे, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे श्रीअङ्गोंसे सटी रहूँ।

दासी मैं हो चुकी सदाकी, अर्पण कर चरणोंमें प्राण।
प्रेम-दामसे बँध चरणोंमें, प्राण हो गये धन्य महान॥

तुम्हारे चरणोंपर अपने प्राणोंको न्योछावर करके मैं सदाके लिये तुम्हारी चेरी बन चुकी हूँ। प्रेमकी डोरीसे तुम्हारे चरणोंमें बँधकर मेरे ये प्राण अत्यन्त धन्य हो चुके हैं।

देख लिया, त्रिभुवनमें बिना तुम्हारे और कौन मेरा।
कौन पूछता है 'राधा' कह, किसको राधाने हेरा॥

मैंने परीक्षण करके देख लिया, त्रिलोकीमें तुमको छोड़कर मेरा और कौन है (कोई नहीं है)। 'राधा' नाम लेकर दूसरा कौन मुझको टेरता है और मुझ राधाकी भी दृष्टि और किसकी ओर गयी है ?

इस कुल, उस कुल—दोनों कुल, गोकुलमें मेरा अपना कौन ?
अरुण मृदुल पद-कमलोंकी ले शरण अनन्य, गयी हो मौन ॥

मेरे नैहरमें और ससुरालमें—दोनों परिवारोंमें, इस गोकुल (व्रज) में मेरा सगा कौन है—कोई नहीं। एकमात्र तुम्हारे लाल-लाल सुकुमार चरण-कमलोंका आश्रय लेकर मैं मौन हो गयी हूँ।

देखे बिना तुम्हें पलभर भी मुझे नहीं पड़ता है चैन।
तुम ही प्राणनाथ नित मेरे, किसे सुनाऊँ मनके बैन ॥

तुमको देखे बिना मुझको एक पल भी चैन—शान्ति नहीं मिलती। सदाके लिये तुम्हीं मेरे प्राणोंके स्वामी हो, तुमको छोड़कर और किसको अपने मनकी बात सुनाऊँ ?

रूप-शील-गुणहीन समझकर कितना ही दुतकारो तुम।
चरणधूलि मैं चरणोंमें ही लगी रहूँगी, बस, हरदम ॥

रूप, शील, स्वभाव तथा गुणोंसे हीन समझकर तुम मुझको कितना ही दुतकारो, मैं तो तुम्हारे चरणोंकी रज हूँ और प्रतिक्षण चरणोंमें ही चिपटी रहूँगी—बस, इतनी बात जानती हूँ।

(अप्रकाशित पत्रोंसे)

अपने पापोंकी आलोचना करें, दूसरोंकी नहीं

एक संन्यासीकी कुटीके सामने ही एक बहनका मकान था। वह बहुत रूपवती थी, पर रास्ता भूली हुई थी। शहरके धनी-मानी घरोंके व्यक्ति उसके यहाँ आते रहते थे। जब कोई व्यक्ति उस बहनके पास आता, संन्यासी उसके नामका एक पत्थर अपनी कुटीके सामने रख देता। धीरे-धीरे पत्थरोंका ढेर जमा हो गया। एक दिन जब वह पथ भूली हुई बहन घरसे बाहर निकली, तब अचानक उसने अपने घरके सामने पत्थरोंका ढेर देखा ! इस सम्बन्धमें उसने संन्यासीसे पूछा। संन्यासीने कहा—'पापिनी ! यह तुम्हारे दुष्कर्मोंका ढेर है ! एक दिन ये ही पत्थर तुम्हारे गलेमें बँधकर तुम्हें नरकमें ले जायँगे।' पथ भूली हुई बहनको संन्यासीकी बात सुनकर और सामने पत्थरोंके बड़े ढेरको देखकर अपने कृत्योंपर बड़ी ग्लानि हुई और तत्काल वह वहीं गिरकर मर गयी। थोड़े दिनोंके बाद संन्यासीकी भी मृत्यु हो गयी। मरनेके बाद वह बहन स्वर्गमें गयी और संन्यासी नरकमें।

संन्यासीने यमराजसे पूछा—'मैं नित्य धर्म-भजनमें अपना दिन बिताया करता था, जिसके बदलेमें मुझे नरक मिला और वह बहन, जो दिन-रात पापकर्ममें लगी रहती थी, उसे स्वर्ग मिला, इसका कारण क्या है ?'

यमराजने उत्तर दिया—'आप रोज दूसरोंके पापोंकी गणनामें लगे रहते थे, इसलिये आपको नरक दिया गया और उस बहनने अपने पापोंका इतना बड़ा प्रायश्चित्त किया कि उसने अपने आपको ही दे दिया, इसलिये उसे स्वर्ग मिला।'

दूसरोंके पाप-पुण्यका निर्णय करनेवाले आप कौन होते हैं ? आपको केवल इतना अधिकार है कि अपने पापोंकी आलोचना करें, दूसरोंकी नहीं।

—श्रीरामकृष्ण परमहंस

गीताका ज्ञानयोग—३

[श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या]

(स्वामी रामसुखदास)

[गताङ्क पृष्ठ ८९६ से आगे]

सम्बन्ध—

अब भगवान् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका स्पष्ट ज्ञान करानेके लिये क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विषयका विशदरूपसे विवेचन प्रारम्भ करते हैं और अर्जुनको 'क्षेत्र'के विषयमें चार एवं 'क्षेत्रज्ञ'के विषयमें दो बातें सुननेकी आज्ञा देते हैं—

श्लोक—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

भावार्थ—

पहले श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'क्षेत्र' (**क्षेत्रमित्यभिधीयते**) और उत्तरार्द्धमें 'क्षेत्रज्ञ' (**क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः**) का जो लक्षणसहित वर्णन है, उसी प्रसङ्गमें इस श्लोकमें 'क्षेत्र'के विषयमें चार और 'क्षेत्रज्ञ'के विषयमें दो बातें संक्षेपसे सुननेकी उनकी आज्ञा है। 'क्षेत्र'के विषयमें चार बातें हैं—उसका स्वरूप, स्वभाव, विकार और जिससे जो पैदा हुआ। (१) स्वरूप—चौबीस तत्त्वोंवाला, यथा—पाँच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी), अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति, दस इन्द्रियाँ, मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषय। (२) स्वभाव—उत्पत्ति-विनाशधर्मवाला। (३) विकार—इच्छा-द्वेषादि विकारोंवाला और (४) जिस कारणसे जो उत्पन्न हुआ अर्थात् तेईस तत्त्वोंका मूल कारण प्रकृति है। 'क्षेत्रज्ञ'के विषयमें दो बातें हैं—उसका स्वरूप और प्रभाव। (१) स्वरूप—नित्य, अविनाशी, निरन्तर रहनेवाला। (२) प्रभाव—सबमें रहता हुआ भी निर्लिप्त, कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे रहित।

अन्वय—

तत्, क्षेत्रम्, यत्, च, यादृक्, च, यद्विकारि, च, यतः, यत्, च, सः, यः, च, यत्प्रभावः, तत्, समासेन, मे, शृणु ॥ ३ ॥

पद-व्याख्या—

तत् क्षेत्रम्—वह क्षेत्र।

पहले श्लोकके पूर्वार्द्धमें जिस क्षेत्रका वर्णन किया गया है, उसी 'क्षेत्र'की ओर यहाँ लक्ष्य है; भगवान् उसके विषयमें ही सुननेके लिये कह रहे हैं।

यत्—जो है; अर्थात् उस क्षेत्रका अवयवोंसहित स्वरूप कैसा है? क्षेत्रके स्वरूपका वर्णन उसे चौबीस तत्त्वोंवाला कहकर इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें हुआ है।

च—और।

यादृक्—जैसा है; अर्थात् वह क्षेत्र कैसे स्वभाववाला है?

क्षेत्रके स्वभावका वर्णन इसी अध्यायके २६वें और २७वें श्लोकोंमें सम्पूर्ण भूतोंको उत्पत्ति-विनाशवाला बताकर किया गया है।

च—तथा।

यद्विकारि—जिन विकारोंवाला है।

यद्यपि प्रकृतिका परिणाम होनेसे इसी अध्यायके ५वें श्लोकमें वर्णित तेईस तत्त्वोंको भी विकार कहा जाता है, तथापि यहाँ इस पदसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके माने हुए सम्बन्धके कारण क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले इच्छा-द्वेषादि विकारोंको ही (जिनका वर्णन छठे श्लोकमें हुआ है) विकार कहना अभिप्रेत है।

च—और ।

यतः यत्—जिससे जो पैदा हुआ अर्थात् जिन पदार्थोंके समुदायका नाम क्षेत्र है, उनमेंसे कौन पदार्थ किससे उत्पन्न हुआ है । प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे पाँच सूक्ष्म महाभूत, मन और दस इन्द्रियाँ तथा सूक्ष्म महाभूतोंसे पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके 'शब्दादि' पाँचों स्थूल विषय उत्पन्न होते हैं । प्रकृतिसे गुण—सत्त्व, रज और तम एवं इन गुणोंसे सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति होती है । इसका वर्णन इसी अध्यायके १९वें श्लोकके उत्तरार्द्धमें हुआ है । सूक्ष्म महाभूतों अर्थात् तन्मात्राओंमें पाँच स्थूलभूत—आकाशादिका अन्तर्भाव है ।

च—तथा ।

सः—वह (क्षेत्रज्ञ) ।

पहले श्लोकके उत्तरार्द्धमें जिस क्षेत्रज्ञका वर्णन हुआ है, उसी क्षेत्रज्ञका वाचक यहाँ **'सः'** पद है एवं उसीके विषयमें यहाँ सुननेके लिये कहा जा रहा है ।

यः—जो है; अर्थात् 'क्षेत्रज्ञ'का जो स्वरूप है ।

क्षेत्रज्ञके प्रकृतिस्थ स्वरूपका वर्णन इसी अध्यायके १९वें श्लोकमें 'अनादि', २०वें श्लोकमें 'सुख-दुःखों-का भोक्ता' और २१वें श्लोकमें 'अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेवाला' कहकर किया गया है एवं उसके वास्तविक अविनाशी स्वरूपका वर्णन २२वें और २७वेंसे २९वें श्लोकोंतकमें किया गया है ।

च—और ।

यत्प्रभावः—उसका जो प्रभाव है ।

'क्षेत्रज्ञ'के अकर्तृत्व और निर्लिप्ततारूपी प्रभावका वर्णन इसी अध्यायके ३१वेंसे ३३वें श्लोकोंतकमें किया गया है ।

तत् समासेन मे शृणु—वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन ।

'तत्' पद सदैव पूर्वपरामर्शक होता है, अर्थात् जो पूर्वमें कहा जाता है, उसीका बोध करानेके लिये आता है । यहाँ यह **'तत्'** पद इस श्लोकमें आयी हुई छहों अर्थात् 'क्षेत्र'विषयक चार और 'क्षेत्रज्ञ'विषयक दो बातोंको सुननेका निर्देश करता है ।

विशेषार्थ—'भक्ति और ज्ञान-मार्गके उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है ?' अपने इस प्रश्नका उत्तर अर्जुन बारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकसे सुन ही रहे थे, फिर भी भगवान् यहाँ **'शृणु'** पद देकर उन्हें सुननेकी आज्ञा देते हैं—इससे ऐसा भाव प्रकट होता है, मानो अभीतक तो अर्जुनने भक्तिका विषय ही सुना है । भगवान् कहते हैं कि अब 'ज्ञान'का विषय भी पूर्णरूपेण संक्षेपसे कहता हूँ, उसे भी ध्यानपूर्वक सुन ।

यद्यपि इस अध्यायके प्रारम्भमें पहले दो श्लोकोंमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका सूत्र-रूपसे वर्णन हुआ है, (जिसे भगवान्ने-**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम**—'ज्ञान' भी कहा है) तथापि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका स्पष्टरूपसे सविस्तर विवेचन ('विकारसहित क्षेत्र और निर्विकार क्षेत्रज्ञके स्वरूपगत रहस्यका प्रभावसहित विवेचन) इस तीसरे श्लोकसे आरम्भ होकर चौदहवें अध्यायके २०वें श्लोकतक किया गया है । इसलिये यहाँ भगवान् सुननेकी आज्ञा देते हैं । तात्पर्य यह है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागको भी सावधान होकर सुनो ।

जैसे अपने स्वरूपको परमात्मासे अलग मानना अज्ञान है, वैसे ही समष्टि प्रकृतिके ही अङ्ग अपने शरीर-को समष्टिसे अलग मानना भी अज्ञान है । इस प्रकरणमें भगवान् शरीरकी समस्त संसारके साथ एकता और अपने (जीवके) वास्तविक स्वरूपकी परमात्माके साथ अभिन्नताको विस्तृतरूपमें ध्यानपूर्वक सुननेकी आज्ञा देते हैं । यहाँपर भगवान्का यह आशय है कि परमार्थ-मार्गपर चलनेवाले सभी पथिकों (ज्ञानमार्गी, भक्तिमार्गी, योगमार्गी आदि) को इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभाग-

को तत्परतासे एवं सावधानीपूर्वक समझना चाहिये; क्योंकि यह उन सभीके लिये उपयोगी है ।

शङ्का—यहाँ इस श्लोकमें भगवान् क्षेत्रके विषयमें चार बातें—स्वरूप, स्वभाव, विकार और जिससे जो पैदा हुआ, एवं क्षेत्रज्ञके विषयमें केवल दो बातें—स्वरूप और प्रभाव ही सुननेकी आज्ञा देते हैं । अतः ऐसी शङ्का हो सकती है कि क्षेत्रका प्रभाव भी क्यों नहीं कहा गया और साथ ही क्षेत्रज्ञके सम्बन्धमें स्वरूपके अतिरिक्त उसके भी स्वभाव, विकार और जिससे जो पैदा हुआ, इन विषयोंपर प्रकाश क्यों नहीं डाला गया ?

समाधान—एक क्षण भी एक रूपमें स्थिर न रहनेवाले क्षेत्रका प्रभाव हो ही क्या सकता है ! प्रकृतिस्थ (संसारी) पुरुषके अन्तःकरणमें धनादि जड पदार्थोंका महत्त्व रहता है, इसीलिये संसारमें क्षेत्रका (धनादि जड पदार्थोंका) प्रभाव दिखता है । वास्तवमें स्वतन्त्ररूपसे क्षेत्र (जडता)-का कुछ भी प्रभाव नहीं है । अतः प्रतिक्षण परिवर्तनशील क्षेत्रका कुछ भी प्रभाव न होनेके कारण उसके प्रभावका कोई वर्णन नहीं किया गया ।

क्षेत्रज्ञका स्वरूप उत्पत्ति-विनाशरहित है, इसलिये उसका स्वभाव भी उत्पत्ति-विनाशरहित है । अतः श्रीभगवान्‌ने उसके स्वभावका पृथक्‌से वर्णन न कर स्वरूपके अन्तर्गत ही कर दिया । क्षेत्रके साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेसे ही क्षेत्रज्ञमें इच्छा-द्वेषादि विकारोंकी प्रतीति होती है; स्वरूपतः क्षेत्रज्ञ निर्विकार ही है । अतः वस्तुतः निर्विकार क्षेत्रज्ञके विकारोंका वर्णन सम्भव ही नहीं । क्षेत्रज्ञ अद्वितीय, अनादि और नित्य है । अतः इसके विषयमें कौन किससे उत्पन्न हुआ, ऐसी शङ्का करनेका प्रश्न ही नहीं रहता ।

सम्बन्ध

अगले श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विषयमें जो मैं संक्षेपसे कह रहा हूँ, वही यथार्थ है और उसी विषयको वेद, शास्त्र, ब्रह्मसूत्र और महापुरुष भी विस्तारसे कहते हैं—

श्लोक—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

भावार्थ—

वेदके अनेक मन्त्रोंद्वारा अलग-अलग जिनके (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके) तत्त्वका विस्तारसे वर्णन हुआ है तथा ऋषियोंने भी जिनका बहुत प्रकारसे वर्णन किया है, वही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका तत्त्व युक्तियोंद्वारा निश्चित किये हुए ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है ।

भगवद्वाणीमें उपर्युक्त प्रमाणोंके आ जानेसे यह सिद्ध हो जाता है कि वेद, शास्त्र और महापुरुषोंके द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विषयमें विस्तारपूर्वक किया हुआ विवेचन भी यथार्थ है; क्योंकि ये (वेद-शास्त्रादि) यथार्थ तत्त्वका ही निरूपण करते हैं ।

अन्वय—

विविधैः, छन्दोभिः, पृथक् (गीतम्), च, ऋषिभिः, बहुधा, गीतम् (च), विनिश्चितैः, हेतुमद्भिः, ब्रह्मसूत्रपदैः, एव ॥४॥

पद-व्याख्या

विविधैः छन्दोभिः पृथक् (गीतम्)—विविध वैदिक मन्त्रोंद्वारा विभागपूर्वक कहा गया है । यहाँ **'विविधैः'** विशेषणसहित **'छन्दोभिः'** पद ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंके 'संहिता' और 'ब्राह्मण' भागोंके मन्त्रोंका वाचक है । इन्हींके अन्तर्गत समस्त उपनिषद् और भिन्न-भिन्न शाखाओंको भी समझ लेना चाहिये ।

च—तथा ।

ऋषिभिः बहुधा गीतम्—ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे समझाया गया है। मन्त्रोंके द्रष्टा एवं शास्त्र और स्मृतियोंके रचयिता ऋषिगणोंके लिये यहाँ '**ऋषिभिः**' पद आया है। इन ऋषियोंने अपनी-अपनी स्मृतियों और ग्रन्थोंमें जड-चेतन, सत्-असत्, शरीर-शरीरी, देह-देही और नित्य-अनित्य आदि शब्दोंसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके तत्त्वको बहुत प्रकारसे वर्णन करके स्पष्ट समझाया है।

(च)—और।

विनिश्चितैः हेतुमद्भिः ब्रह्मसूत्रपदैः एव—युक्तियुक्त एवं अच्छी प्रकार निश्चय किये हुए ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके तत्त्वका निरूपण किया गया है।

सम्बन्ध—

तीसरे श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विषयमें जिन छः बातोंको संक्षेपसे सुननेकी आज्ञा दी गयी थी, उनमेंसे क्षेत्रकी दो बातोंका अर्थात् उसके स्वरूप और विकारोंका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें किया जा रहा है

श्लोक—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥

भावार्थ—

सूक्ष्म पञ्च महाभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, जिन्हें सांख्ययोग आदिमें पञ्च तन्मात्रा[1] भी कहते हैं, समष्टि अहंकार—जिसके पुराणोंमें सात्त्विक, राजस और तामस—तीन भेद किये गये हैं; समष्टि बुद्धि—जिसे महत्तत्त्व कहते हैं और मूल प्रकृति तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—(श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण), पाँच कर्मेन्द्रियाँ—(वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा), एक मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय—(शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध)—इस प्रकार इन चौबीस तत्त्वोंके समुदायका नाम 'क्षेत्र' है।

अन्वय—

महाभूतानि, अहंकारः, बुद्धिः, च, अव्यक्तम्, एव, च, दश, इन्द्रियाणि, एकम्, च, पञ्च, इन्द्रियगोचराः॥ ५॥

पद-व्याख्या—

महाभूतानि—सूक्ष्म पञ्च महाभूत।

वेदान्त-ग्रन्थोंमें इन्हींको 'अपञ्चीकृत-पञ्चमहाभूत' कहते हैं। इन्द्रियोंके विषय—शब्दादिके कारण होनेसे ये पञ्चमहाभूत 'प्रकृति' हैं एवं 'अहंकार' तत्त्वके कार्य होनेसे 'विकृति' हैं। तात्पर्य यह है कि ये पञ्चमहाभूत 'प्रकृतिविकृति' हैं।

सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें—'**भूमिः, आपः, अनलः, वायुः** और **खम्**' के नामोंसे ही इन्हीं पञ्चमहाभूतोंका वर्णन हुआ है।

अहंकारः—समष्टि अहंकार।

व्यक्ति-विशेषमें (भूलसे शरीरको अपना स्वरूप मानकर) 'शरीर मैं हूँ' ऐसी अहंकी स्फूर्ति होनेको 'व्यष्टि अहंकार' कहते हैं। यह व्यष्टि अहंकार अपना माना हुआ है (गीता ३। २७), अतः यह अपवित्र और त्याज्य है।[1] इस माने हुए अहंकारके कारण ही

---

१. पञ्च तन्मात्राओंके अन्तर्गत ही उनके कार्य पञ्च स्थूल महाभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशको ले लेना चाहिये।

१. जड-चेतन प्रत्यक्ष रूपमें बिल्कुल अलग दिखायी देते हैं। 'उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः' (२। १६) जडके साथ केवल मानी हुई एकता है। इसीसे व्यष्टि अहंकार है। जबतक यह मानी हुई एकता हम छोड़ेंगे नहीं, तबतक चाहे कितने ही उपाय करें, यह मिटेगी नहीं। यदि इसे न मानें तो यह जड-चेतनकी एकरूपता टिकेगी नहीं। ध्यान रहे, जो वस्तु मानी हुई होती है, वह वास्तवमें होती नहीं। इसलिये यह माना हुआ सम्बन्ध भी वास्तविक नहीं है।

जन्म-मरण होता है, परंतु इसे न माननेसे इसका सर्वथा अभाव हो जाता है । (गीता ५ । ८)[1]

यद्यपि यह 'व्यक्तिगत (व्यष्टि) अहंकार' भी अहंकारके नामसे कहा जाता है, किंतु यहाँपर यह पद समष्टि अहंकारके लिये प्रयुक्त हुआ है ।

जैसे वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन तत्त्वोंका आकाश कारण भी है एवं उनमें व्याप्त भी है, वैसे ही अहंकार समष्टि संसारकी उत्पत्तिका कारण भी है और सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त भी है । सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्तिका कारण एवं सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त होनेसे सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंमें व्यापक सामान्य अहंकार एवं सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ मिलकर 'समष्टि-अहंकार' कहलाता है । व्यष्टि अहंकार इस समष्टि अहंकारका ही क्षुद्र अंश है ।

समष्टि अहंकारकी द्रव्य-शक्तिसे पाँच महाभूत, ज्ञान-शक्तिसे मन और क्रिया-शक्तिसे दसों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति कही गयी है, इसलिये यह 'प्रकृति' है; यह समष्टि बुद्धिका कार्य होनेसे 'विकृति' भी है । तात्पर्य यह है कि अहंकार 'प्रकृति-विकृति' है ।

सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें **'अहंकारः'** पद इसी समष्टि अहंकारके भावसे ही आया है ।

तीसरे अध्यायके २७वें श्लोकमें, सोलहवें अध्यायके १८वें श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके ५३वें और ५९वें श्लोकोंमें आया हुआ **'अहंकार'** पद एवं अठारहवें अध्यायके १७वें श्लोकमें आया हुआ **'अहंकृतभाव'** पद और अठारहवें अध्यायके ५८वें श्लोकमें आया हुआ **'अहंकारात्'** पद व्यक्तिगत विशेष-विशेष (अलग-अलग) अहंकारके वाचक हैं ।

दूसरे अध्यायके ७१वें श्लोकमें एवं बारहवें अध्यायके १३वें श्लोकमें आया हुआ **'निरहंकारः'** पद तथा इसी अध्यायके आठवें श्लोकमें आया हुआ **'अनहंकारः'** पद और अठारहवें अध्यायके २६वें श्लोकमें आया हुआ **'अनहंवादी'** पद माने हुए बन्धनकारक अहंकारके सर्वथा अभावके ही द्योतक हैं, सामान्य अहंकारके नहीं । जिस अहंकारसे जीवन्मुक्त महापुरुषकी जीवन-निर्वाहसम्बन्धी क्रियाएँ होती हैं, वह निर्दोष सामान्य अहंकार है, जो अपने सम्पूर्ण कार्य-संसारमें सामान्य-रूपसे व्यापक है ।

बुद्धिः—समष्टि बुद्धि ।

प्रत्येक व्यक्तिमें निश्चय करनेकी एक शक्ति न्यूनाधिकरूपसे रहती है । इसको अपनी माननेसे वह व्यष्टि बुद्धि कहलाती है । यद्यपि यह 'व्यष्टि बुद्धि' भी बुद्धिके नामसे ही कही जाती है, किंतु यहाँपर यह पद समष्टि-बुद्धिके लिये ही प्रयुक्त हुआ है । समष्टि अहंकारकी तरह ही सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंमें व्यापक सामान्य बुद्धि और सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ मिलकर 'समष्टि-बुद्धि' कहलाती है । यह समष्टि-बुद्धि 'महत्तत्त्व'-के नामसे भी कही जाती है । व्यष्टि बुद्धि इस समष्टि-बुद्धिका ही एक क्षुद्र अंश है । इस समष्टि-बुद्धिसे अवंकारकी उत्पत्ति होती है, इसलिये यह 'प्रकृति' है एवं मूल प्रकृतिका कार्य होनेसे यह 'विकृति' भी है । तात्पर्य यह है कि समष्टि-बुद्धि भी 'प्रकृति-विकृति' है ।

च—और ।

अव्यक्तम्—मूल प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया ।

प्रत्येक व्यक्तिके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन शरीर हैं । यद्यपि प्रत्येक व्यक्तिका यह 'कारण-शरीर' भी 'व्यक्तिगत-प्रकृति'के नामसे कहा जाता है, किंतु यहाँ यह पद 'मूल-प्रकृति'का ही वाचक है, जो महत्तत्त्वादि समस्त पदार्थोंकी कारणरूपा है ।

मूल प्रकृति अनादि है, अतः यह किसीका भी कार्य नहीं है । प्रत्येक व्यक्तिका कारण-शरीर अर्थात् व्यक्तिगत प्रकृति इस मूल प्रकृतिका ही क्षुद्र अंश है । जो देश, काल,

१. नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

वस्तु और व्यक्तिके संस्कारका सम्बन्ध है, वह व्यक्तिगत प्रकृतिमें दोष है। जड-चेतन (प्रकृति-पुरुष) का यथार्थ विवेक होनेपर इस दोषका सर्वथा अभाव हो जाता है।

मूल प्रकृतिसे समष्टि बुद्धिकी उत्पत्ति होती है एवं किसीका भी कार्य न होनेसे यह केवल 'प्रकृति' ही है।

इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें आया हुआ **'प्रकृतिम्'** पद एवं चौदहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकोंमें आया हुआ **'महत्' 'ब्रह्म'** पद इसी मूल प्रकृतिके द्योतक हैं।

आठवें अध्यायके अठारहवें और बीसवें श्लोकोंमें आया हुआ **'अव्यक्तात्'** पद ब्रह्माके सूक्ष्मशरीरके लिये प्रयुक्त हुआ है।

आठवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें आया **'सनातनः अव्यक्तः'** पदोंका प्रयोग सच्चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म परमात्माके लिये हुआ है।

एव–भी।

च–तथा।

दश इन्द्रियाणि–दस इन्द्रियाँ।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाक्, हस्त, पाद आदि और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ श्रोत्र, नेत्र, त्वचा आदि—इस प्रकार सब मिलकर दस इन्द्रियाँ हैं। प्रायः मनुष्य इन्द्रियोंके गोलकों (उनके रहनेके स्थान) को इन्द्रियाँ समझते हैं, किंतु वास्तवमें चक्षु आदि स्थानोंमें रहनेवाली शक्तिको ही इन्द्रियाँ कहते हैं।

यद्यपि भगवान् गीतामें श्रोत्र, त्वचा आदि पाँचों इन्द्रियोंका पृथक्रूपसे वर्णन तो करते हैं (गीता १५। ९); किंतु उन्होंने इन्हें 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्दसे सम्पूर्ण गीतामें कहीं व्यक्त नहीं किया। इसका ऐसा कारण प्रतीत होता है कि भगवान् सम्पूर्ण इन्द्रियों—कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों—से ही कर्म होना मानते हैं। जैसे—

(१) तीसरे अध्यायके छठे श्लोकमें **'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य'** पद आया है—वहाँ उसका अर्थ कर्मेन्द्रिय पूरी तरहसे ठीक नहीं बैठता; क्योंकि ऐसा अर्थ लेनेसे एक तो ज्ञानेन्द्रियोंके संयम करनेकी बात रह गयी, दूसरे ज्ञानेन्द्रियोंके संयम बिना मिथ्याचारीका स्वाँग भी पूरा नहीं होता।

(२) तीसरे अध्यायके ७वें श्लोकमें आया हुआ **'कर्मेन्द्रियैः'** पदका केवल कर्मेन्द्रियाँ अर्थ लेनेसे ज्ञानेन्द्रियोंके बिना कर्मयोगका अनुष्ठान सिद्ध ही नहीं होता। अतः वहाँ भी ज्ञानेन्द्रियोंको कर्मेन्द्रियोंके अन्तर्गत ही लिया गया है। तात्पर्य यह है कि गीतामें सम्पूर्ण इन्द्रियोंको 'इन्द्रियाँ' अथवा 'कर्मेन्द्रियाँ' शब्दोंसे ही कहा गया है।

यहाँपर यह वर्णन समष्टि इन्द्रिय-शक्तिका है। व्यक्तिगत इन्द्रियाँ समष्टिका ही अंश हैं।

अहंकारकी क्रिया-शक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण एवं इनसे किसी भी तत्त्वकी उत्पत्ति न होनेके कारण ये दसों इन्द्रियाँ केवल 'विकृति' हैं।

एकम्–एक मन।

केवल संकल्प-विकल्प करनेवाली अन्तःकरणकी वह वृत्ति जो 'मन' के नामसे कही जाती है। यह मनन करनेवाली वृत्ति प्रत्येक व्यक्तिमें भिन्न-भिन्नरूपसे रहती है और इसे अपनी माननेपर यह 'व्यक्तिगत मन' कहलाती है। यद्यपि यह व्यक्तिगत मन भी 'मन' के नामसे कहा जाता है, किंतु यहाँ यह पद समष्टि अन्तःकरणकी एक वृत्ति 'समष्टि-मन' के लिये आया है। व्यष्टिगत मन इस समष्टि-मनका ही क्षुद्र अंश है। अहंकारकी ज्ञान-शक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण एवं इससे किसी भी तत्त्वकी उत्पत्ति न होनेके कारण यह मन भी केवल 'विकृति' है।

च–और।

पञ्च इन्द्रियगोचराः–पाँचों इन्द्रियोंके पाँच शब्दादि विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)।

मनुष्य अपने शरीरके अन्तर्गत भी इन पाँचों विषयों-का—शब्द (पेटमें गड़गड़ाहटके शब्द कानोंसे सुनकर), स्पर्श (कण्ठमें जलकी उष्णता-शीतलताका स्पर्श), रूप (नेत्र बंद करनेपर नाना प्रकारके रंग-दृश्य), रस (भोजनके पश्चात् लार आदिके रूपसे) और गन्ध (अपने ही मुँहकी गन्ध नासिकाके द्वारा)—अनुभव करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पाँचों विषय शरीरके अन्तर्गत भी हैं और बाहर भी। तात्पर्य यह कि प्रत्येक व्यक्तिमें ये पाँचों विषय सूक्ष्म महाभूतोंके साथ कारणरूपसे भी रहते हैं।

ये पाँचों विषय पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके स्थूल विषय हैं। सूक्ष्म महाभूतोंका कार्य होनेसे एवं इनसे किसी भी तत्त्वकी उत्पत्ति न होनेके कारण ये पाँचों विषय भी केवल 'विकृति' ही हैं।

विशेषार्थ—यह व्यष्टि शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) किसी भी प्रकारसे समष्टि संसार (स्थूल, सूक्ष्म और कारण—प्रकृति) से भिन्न है नहीं, हो सकता नहीं। तत्त्वसे व्यष्टि है ही नहीं, व्यष्टिभाव कल्पनामात्र है—जैसे धूलिके छोटे-छोटे कण पृथ्वीसे अलग नहीं हैं और समुद्रकी लहर भी समुद्रसे अलग नहीं है। जिस प्रकार धूलिके कणोंको पृथ्वीसे और समुद्रकी लहरोंको समुद्रसे अलग कहना महान् भूल है, वैसे ही शरीरको (व्यष्टिको) संसारसे (समष्टिसे) भिन्न मानकर अपना मानना भी महान् भूल है। इस भूलको मिटाने अर्थात् व्यष्टिभाव मिटानेके लिये भगवान् यहाँ समष्टि-तत्त्वोंका वर्णन करते हैं। इस भूलको मिटानेका सुगम उपाय यह है कि या तो सम्पूर्ण संसारको अपना माने, अन्यथा अपने कहलानेवाले शरीरको भी अपना न माने।

क्षेत्रके स्वरूपमें चौबीस तत्त्वोंका विवेचन करते हुए भगवान्ने आदिमें सात तत्त्वों—पाँच महाभूत, एक अहंकार और एक बुद्धिका 'प्रकृति-विकृति' के रूपमें, फिर मूल प्रकृतिका और अन्तमें सोलह तत्त्वों—दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषयोंका केवल 'विकृति' के रूपमें वर्णन किया है। इस प्रकारका क्रम रखनेमें भगवान्का एक तो ऐसा भाव प्रतीत होता है कि 'प्रकृति-विकृति' के विभागको 'विकृति' समुदायसे विभक्त करनेके लिये 'अव्यक्त' को दोनों विभागोंके बीचमें रखा है, जिससे कि सभी विभाग स्पष्टरूपसे समझमें आ जायँ।

दूसरा भाव ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार सांख्यशास्त्रमें सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन—'प्रकृति', 'प्रकृति-विकृति' और 'विकृति'—भिन्न-भिन्न करके बताया गया है[1], उसी प्रकार यहाँ भी समष्टि सृष्टिके स्वरूपमें चौबीस तत्त्वोंका वर्णन करते हैं। यहाँ '**इन्द्रियाणि दशैकम्**' पदोंके साथ बुद्धि और अहंकार न आनेके कारण इसे व्यष्टि शरीरका वर्णन मानना उचित नहीं है। (क्रमशः)

---

१. सांख्यकारिकामें आया है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ (सांख्यकारिका ३)

मूल प्रकृति तो किसीकी विकृति (विकार) नहीं है। महत्तत्त्व, अहंकार और शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श (पञ्चतन्मात्राएँ)—ये सातों पञ्चभूतादिके कारण होनेसे 'प्रकृति' भी हैं और मूल प्रकृतिका कार्य न होनेसे 'विकृति' भी हैं; अर्थात् सातों 'प्रकृति-विकृति' हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन (ग्यारह इन्द्रियाँ) एवं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश (पाँच महाभूत)—ये कुल सोलह केवल विकृति हैं। वे किसीकी प्रकृति अर्थात् कारण नहीं हैं। यह भी समझना चाहिये कि ग्यारह इन्द्रियाँ अहंकारका कार्य हैं और पञ्च स्थूल महाभूत पञ्च तन्मात्राओंके कार्य हैं। पुरुष न किसीका कारण है, न कार्य। वह असंग है।

महात्मा पूनतानम्

(लेखक—श्रीरामलाल)

महात्मा पूनतानम् भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त और उच्चकोटिके रसिक संत थे। वे परम भागवत थे। उन्होंने अपनी श्रीकृष्ण-उपासनासे केरल प्रदेश ही नहीं, समस्त भारतवर्षको गौरवान्वित कर मलयालम् भाषा और साहित्यको भगवद्भक्तिसे सम्प्लावित कर दिया। केरल प्रदेशके सत्रहवीं शतीके प्रसिद्ध संत, 'नारायणीयम्' भक्ति-काव्यके रचयिता मेपुत्तूर भट्टनारायण, महान् तपस्वी बिल्वमङ्गल और राजकुमार, परम भगवद्भक्त मानवेद उनके समकालीन थे। गुरुवायूरके इष्टदेव भगवान् नारायणके भक्त-रूपमें चारों संत अत्यन्त प्रसिद्ध थे। विशेष बात यह है कि विशिष्ट संतके रूपमें महात्मा पूनतानम् केरलके लोक-मानसमें इन तीनोंसे कहीं अधिक प्रतिष्ठित तथा प्रख्यात थे। मेपुत्तूर भट्टनारायण उच्चकोटिके विद्वान् थे। उन्होंने श्रीमद्भागवतके संक्षिप्तरूपमें १०० दशकों और १०३६ श्लोकोंमें विद्वत्तापूर्ण ढंगसे 'नारायणीयम्' काव्यकी रचना की। महात्मा बिल्वमङ्गलके जीवन-वृत्तान्तके सम्बन्धमें सामग्री-का अभाव है। वे 'कृष्णकर्णामृत'के रचयिता बिल्वमङ्गलके नाम-रूपसे प्रसिद्ध लीलाशुकसे भिन्न व्यक्ति थे। लीलाशुक तो चैतन्य महाप्रभुके पूर्ववर्ती थे। पूनतानम्के समकालीन महात्मा बिल्वमङ्गल सत्रहवीं शतीमें विद्यमान थे। उनकी कृपासे राजकुमार मानवेदको भगवान् श्रीकृष्णका बालरूपमें दर्शन हुआ था। जब मानवेदने भगवान्का आलिङ्गन करना चाहा, तब उन्होंने कहा कि 'बिल्वमङ्गल स्वामीने मुझसे आलिङ्गनकी बात नहीं कही है।' जब उसने उनको बलात् आलिङ्गनमें भरना चाहा, तब वे एक मोरपंख छोड़कर अदृश्य हो गये। भट्ट नारायणने अम्पलप्पुल-नरेश देवनारायणको बिल्वमङ्गल स्वामीका शिष्य कहा है। देवनारायण भट्ट नारायणके संरक्षक थे। राजकुमार मानवेद व्याकरणशास्त्रके महान् पण्डित थे। उनको 'प्रज्ञातपातञ्जल' कहा जाता है। उन्होंने 'कृष्णगीति'की रचना की। महात्मा पूनतानम्की विशेषता यह है कि उन्होंने सीधी-सादी सर्वसाधारणके समझने योग्य मलयालम् भाषामें अपने आराध्य गुरुवायूर-मन्दिरमें प्रतिष्ठित भगवान् व्रजनारायण श्रीकृष्णका यश गाया। उनकी रचना सरल और सहज-सुगम है। उन्होंने केरल प्रदेशमें श्रीकृष्णकी रसमयी भक्ति प्रवाहित की।

सत्रहवीं शताब्दीमें केरल प्रदेशके गुरुवायूर नगरने संत-साहित्य, भागवत-धर्म और भगवद्भक्तिके विकासमें अमित योगदान दिया। इसका नाम पहले कुरुवायूर था। कुरुवायूरने केरल प्रदेशके जन-जीवनमें आध्यात्मिक जागृति—क्रान्तिका भगवद्भक्तिपरक सृजन किया। इस क्रान्तिके गर्भमें साहित्यिक और दार्शनिक जागरणका भी समावेश सुलभ था। प्रत्येक वर्ष गुरुवायूरके संतोंके संविधानमें केरलकी जनता तीर्थयात्रीकी तरह उपस्थित होकर अध्यात्मका उपदेशामृत प्राप्तकर अपना जीवन कृतार्थ और सफल करती थी—सत्रहवीं शतीके गुरुवायूरकी यह आध्यात्मिक विशिष्टता है। मेपुत्तूर भट्ट नारायण, मानवेद स्वामी बिल्वमङ्गल और महात्मा पूनतानम्की प्रेरणासे गुरुवायूरके मन्दिरका वातावरण नारायण-नारायणके परम पवित्र उच्चारणसे निरन्तर परिपूर्ण रहता आया है और चिरकालतक भगवद्विग्रहके दर्शनार्थी और तीर्थयात्री श्रीनारायण-नारायणके उच्चारणसे अपने-आपको कृतार्थ करते रहेंगे।

केरल प्रदेशके पवित्र भूमिभागमें एक मध्यम श्रेणीके ब्राह्मणकुलमें महात्मा पूनतानम्ने सन् १५४७ ई०में जन्म लिया था। उनके पिताका नाम नीलकण्ठ बताया जाता है। उन्हें मलयालम् भाषाका बोध तो था, पर उनका संस्कृत अध्ययन नहींके बराबर था। वे श्रीमद्भागवतका अवलोकन और पाठ करते रहते थे। इसके फलस्वरूप उन्हें संस्कृत भाषाका भी थोड़ा-बहुत ज्ञान हो गया था। उन्होंने अपने पदोंमें तथा 'कृष्णकर्णामृत'के मलयालम्-भाषानुवादमें नीलकण्ठ-नामक गुरुका संस्तवन किया है। इन्हीं नीलकण्ठको उनका पिता बताया जाता है। ऐसी धारणा है कि उपनयन-संस्कारके अवसरपर पिताने गुरुरूपमें उन्हें गायत्रीमन्त्र प्रदान किया था। अतएव स्पष्ट है कि नीलकण्ठ ही उनके पिता और गुरु—दोनों थे। महात्मा पूनतानम्का वास्तविक नाम क्या था, इसका पता नहीं है। पूनतानम् तो उस घरका नाम था, जो तिरुमालंकनुके निकट वाल्लुवनादके नेनमेनि स्थानमें स्थित था। इसी घरमें उनके ससुर (पत्नीके पिता) ने अपने पुत्ररूपमें जामाताको गोद लिया था। घरके नामपर ही वे पूनतानम कहे जाने लगे। विवाहके

पश्चात् लम्बे समयतक पूनतानम्-दम्पतिको संतान न हुई। उन्होंने गुरुवायूरके आराध्यदेवता भगवान् नारायणसे संतानके लिये प्रार्थना की और उनकी कृपासे पुत्रका जन्म हुआ। पर वह कालकवलित हो गया। कहा जाता है कि जिस दिन उस शिशुका अन्नप्राशन-संस्कार था, उसी दिन उसका शरीरान्त हुआ। यह भी कहा जाता है कि माँ बच्चेको रसोईघरमें छोड़कर कुएँपर पानी लेने गयी थी कि बच्चा ठीक चूल्हेके पास पहुँच गया और आगमें जलकर प्राणोंसे हाथ धो बैठा। पूनतानम्के जीवनको इस दुःखद घटनाने भगवान्के सम्मुख मोड़ दिया; संसारकी असारता और जागतिक सम्बन्धकी नश्वरता तथा पारिवारिक मोहके अन्धकारके स्थानपर उनके जीवनमें सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माकी रसमयी भक्ति, शाश्वत आत्मज्ञान और अलौकिक दिव्य प्रेमकी त्रिवेणी प्रवाहित हो उठी। एक कम पढ़े-लिखे सीधे-सादे गृहस्थ पूनतानम् महान् संतके पदपर प्रतिष्ठित हो उठे।

यद्यपि उन्होंने पुत्र-प्राप्तिके लिये अनेक प्रयत्न किये, भाग्यको कोसते हुए भगवान्की कृपाका दरवाजा खटखटाया; अगणित प्रार्थनाएँ कीं, 'संतानगोपाल' मन्त्रका स्तोत्रपाठ किया; अपनी भाषामें 'संतानगोपाल'की ही तरह 'कुमारा-हरणम्'की रचना की; संदेह, निराशा-आशाकी घाटियोंमें भ्रमण किया; तथापि अपने प्रयत्न निष्फल देखकर उन्होंने विवेक-धैर्यका आश्रय लिया। उन्होंने भव-बन्धनसे मुक्ति प्राप्त की तथा आत्मज्ञानके प्रकाशमें 'ज्ञानप्पान'—ज्ञान-गीताकी रचना की। उन्होंने कहा कि 'जब हमारे हृदयके रंगमञ्चपर भगवान् बालकृष्ण नृत्य कर रहे हैं, तब हमें अपने स्वार्थकी परितृप्तिके लिये संतानकी आवश्यकता ही क्या है।' इस तरह उन्होंने अपने ही ऐसे असंख्य निःसंतान प्राणियोंको भगवान्की शिशुलीलाके आस्वादनमें ही आत्मसंतोष प्राप्त करनेका उपाय बताया। महात्मा पूनतानम्का जीवन वैराग्य-रससे समृद्ध हो उठा।

भगवान्की कृपाशक्ति भक्त पूनतानम्की रक्षामें सदा तत्पर रहती थी। एक दिनकी घटना है, वे गुरुवायूर जा रहे थे। उनपर डाकुओंने रास्तेमें आक्रमण किया। गुरुवायूर पहुँचकर भगवान्के श्रीविग्रहका दर्शन करनेका समय बीतने लगा। पूनतानम्के लिये दर्शनका विलम्ब असह्य हो उठा। उस घोर संकटमें उन्होंने करुणावरुणालय भगवान् श्रीनन्दनन्दनका आवाहन किया, उनसे रक्षा करनेकी प्रार्थना की। उन्होंने आकुलताके आवेगमें कहा—'हे देव! द्रौपदीकी रक्षाके लिये आप कितनी शीघ्रतासे आ पहुँचे थे; गजको निर्दयी ग्राहसे बचानेके लिये आपने साक्षात् स्मरण-अवतार ले लिया, उसकी पुकारमें ही प्रकट हो गये।' भक्तकी वाणी थी; भक्तने दुःखमें उनका आवाहन किया था; भगवान्की रक्षा-शक्ति साकार हो उठी। इतनेमें सैनिकोंकी एक टुकड़ी आ पहुँची, डाकू भयभीत होकर नौ-दो-ग्यारह हो गये।

संत पूनतानम्ने वैष्णव धर्म अथवा भागवत धर्मका प्रश्रय लिया। प्रत्येक प्राणीको भगवदाश्रयका ही वरण करना चाहिये—इस अकाट्य सिद्धान्तको उन्होंने अपने जीवनमें पूर्णरूपसे चरितार्थ कर दिखाया। नित्य श्रीमद्भागवतके श्रद्धापूर्वक पठन-अवलोकनसे उनकी चित्त-वृत्ति भगवद्भक्तिसे सम्पोषित हो उठी थी। उनके उपास्य व्रजेन्द्रनन्दन बालकृष्ण थे। उनकी श्रीकृष्णमें अप्रतिम—अनन्य निष्ठा थी और प्रचारसे दूर रहकर वे एकान्त-वासमें ही संतुष्ट रहते थे। उनके जीवनकी पवित्रताकी आधारशिला उनकी एकान्त-निष्ठा थी। आत्मश्लाघा और आत्मविज्ञापनको वे जीवनकी उन्नतिके पथमें बाधक मानते थे।

मेपुत्तूर भट्टनारायण और पूनतानम् समकालीन थे। पूनतानम् कम पढ़े-लिखे थे, पर भट्टनारायण उच्चकोटिके विद्वान् थे। प्रारम्भिक अवस्थामें विद्वत्ताके मदसे उन्मत्त होकर वे पूनतानम्को एक साधारण प्राणी समझते थे। एक समयकी बात है, संत पूनतानम्ने भट्टनारायणसे पूछा कि 'भगवान्की उपासना किस रूपमें करनी चाहिये?' विद्वत्ताके मदमें चूर भट्टनारायणके मुखसे अचानक शब्द निकल पड़े कि 'भैंसेके रूपमें भगवान्की उपासना करनी चाहिये।' संत पूनतानम्की भगवन्निष्ठा उच्च कोटिकी थी। उन्होंने भट्टनारायणके वचनमें दृढ़ विश्वास प्रकट किया। उस विश्वासके परिणामस्वरूप उन्होंने प्रभुका मन्दिरके बाहर भैंसेके रूपमें जाते हुए दर्शन किया। गुरुवायूरकी वैष्णव भक्तमण्डली इस घटनासे आश्चर्यचकित हो उठी; इस तरह भगवान्ने भक्तकी निष्ठाकी रक्षा की।

भट्टनारायणको अपने संस्कृत भाषाके पाण्डित्यपर बड़ा अभिमान था। वे महात्मा पूनतानम्के संस्कृत शब्द 'अमरप्रभुः' के 'मरप्रभुः' के रूपमें उच्चारणकी हँसी उड़ाया करते थे।* मन्दिरके भीतरसे आवाज आयी, 'मैं केवल अमरप्रभु और मरप्रभु ही नहीं हूँ, सर्वप्रभु भी हूँ।'

* पद्मनाभोऽमरप्रभुः। (विष्णुसहस्रनाम १९)

भट्टनारायणने महात्मा पूनतानम्की भगवद्भावनाकी बड़ी सराहना की तथा उनका अहंकार शिथिल हो गया।

एक समय महात्मा पूनतानम्ने मेपुत्तूर भट्टनारायणको अपनी रचना 'ज्ञानप्पान' दिखलानेकी इच्छा की। भट्टनारायणने यह कहकर कि 'आपको व्याकरणकी विभक्तियोंतकका ज्ञान नहीं है', रचनापर दृष्टिपात करना अस्वीकार कर दिया। इस घटनासे महात्मा पूनतानम्के हृदयको असह्य धक्का लगा। वे समझते थे कि रचना देखनेके बाद भट्टनारायण प्रशंसा नहीं भी करेंगे तो आशीर्वाद और प्रोत्साहन तो देंगे ही। भगवान् भक्तके सम्मानकी रक्षा करते ही हैं। दूसरे ही दिन भट्टनारायण अपनी 'नारायणीयम्' रचनाके एक दशककी अशुद्धियोंके सम्बन्धमें आश्चर्यचकित हो उठे। बात यह थी कि वे प्रतिदिन 'नारायणीयम्' के एक दशककी रचना करते थे। उस दिन उन्होंने अभीष्ट दशककी रचना पूरी की ही थी कि अपने सामने एक बालकको बैठे देखा। बालक बड़ा तेजस्वी दीख पड़ता था। उसके वक्षदेशमें उपनयन सुशोभित हो रहा था। ऐसा लगता था कि उपनयनसंस्कार अभी दो-चार दिन पहले ही सम्पन्न हुआ है। बालकने दशककी रचनामें दोष निकालना आरम्भ किया, रचनाकी आलोचना की। उसने दशकके प्रथम श्लोकमें एक, दूसरेमें दो तथा क्रमशः दसवें श्लोकमें दस अशुद्धियाँ निकालीं। अपनी रचनाके एक अंशमें व्याकरण-सम्बन्धी इतनी भूलें देखकर भट्टनारायणका विद्वत्तासम्बन्धी मिथ्या अहंकार गल गया। बालक क्षणमात्रमें यह कहकर अदृश्य हो गया कि मुझे आपकी व्याकरण-सम्बन्धी विभक्तियोंसे पूनतानम्की भक्ति कहीं अधिक प्रिय है। भट्टनारायणकी आँखें खुल गयीं। उन्होंने महात्मा पूनतानम्की भक्तिकी मन-ही-मन सराहना की। भक्तपर भगवान्की असाधारण कृपाका दर्शनकर वे मुग्ध हो उठे। भट्टनारायणने महात्मा पूनतानम्के चरणदेशमें साष्टाङ्ग दण्डवत् किया तथा उनसे आशिष प्रदान करनेकी याचना की। भक्तिकी मर्यादा अचिन्त्य है!

केरल प्रदेशके जनजीवनको पूनतानम्ने अपनी भक्तिपूर्ण रचनाओंसे प्रभावित किया। उन्होंने लोकप्रिय मलयालम् भाषामें भगवान्का गुणानुवाद प्रस्तुत किया। मलयालम् भाषामें रचित उनकी प्रसिद्ध रचना 'ज्ञानप्पान' में श्रीहरिकी लीलाओंका एक सौ पैंतीस पदोंमें वर्णन उपलब्ध है। यह बड़ा सरस ग्रन्थ है। प्रत्येक पदकी अन्तिम पंक्तिमें 'कृष्णहरि' शब्दका प्रयोग हुआ है। इस रचनामें श्रीहरिकी रसमयी लीलाओंके वर्णनके साथ-साथ अनेक उपदेशप्रद पद्यात्मक वाक्य भी मिलते हैं। श्रीकृष्ण और रुक्मिणीके प्रेम-कलहपरक अध्यायका वे बड़ा मधुर पारायण करते थे। कहा जाता है कि कोट्टियूर मन्दिरके इष्टदेव भगवान् शिव और जगज्जननी पार्वतीने उपर्युक्त प्रेमकलहपरक अध्यायको नित्य सुनाते रहनेके लिये उनके हृदयमें प्रेरणा की थी। बड़े-बड़े विद्वान् और दर्शनशास्त्रके महारथी उनके मधुर पारायणसे आकृष्ट होकर उनके चरणकी वन्दना करते हुए यह अनुभव करते थे कि समस्त दर्शनशास्त्रके ज्ञानसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है—भगवान्की कृपा और अनुग्रह प्राप्त करना।

नब्बे सालसे भी अधिककी अवस्थामें उन्होंने सरल मलयालम् भाषामें 'कृष्णकर्णामृत'की रचना की, जो शैली और विषय-निर्वाहकी दृष्टिसे पूर्वप्रसिद्ध लीलाशुकरचित 'कृष्णकर्णामृत'से भिन्न है। यह एक मौलिक भक्तिपूर्ण काव्यकृति है। यह काव्य वामपुराधीश भगवान् श्रीकृष्णको सम्बोधित करके रचा गया है और महात्मा पूनतानम्की मौलिक रचना-पद्धतिके अन्तर्गत यह श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका सारांश है। इसमें बताया गया है कि 'श्रीनारायणके नाम-जपके द्वारा संसारके मायिक बन्धनोंसे मुक्ति प्राप्तकर भगवद्भक्तिका रसास्वादन करना चाहिये। जिह्वाको सम्बोधित करते हुए महात्मा पूनतानम्की उक्ति है कि 'हे जिह्वे! मैं तुम्हें एक अत्यन्त गुप्त रहस्य बताता हूँ। जब तुम नारायणका नाम जपने लगो, तब इस पवित्र कार्यमें लज्जा और संकोच मत करो। श्रीमन्नारायणके नामोच्चारणमें लज्जा किस बातकी!' ठीक यही भाव उन्होंने अपनी 'ज्ञानप्पान' रचनामें व्यक्त किया है कि 'सोते-जागते, निन्दा अथवा स्तुतिके रूपमें अपने लिये या परायेके लिये तथा पवित्र मन्दिर अथवा अपवित्र स्थलमें स्थित दिनमें एक बार भी श्रीनारायणके नामके उच्चारण अथवा श्रवणसे प्राणी मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।'

महात्मा पूनतानम् प्रत्येक मास अपने इष्टदेवका दर्शन करने गुरुवायूर जाया करते थे और वहाँ एक मन्दिरसे दूसरे मन्दिरमें जा-जाकर श्रीमद्भागवतपुराणका पारायण किया करते थे। ज्यों-ज्यों वे वृद्ध होने लगे, त्यों-त्यों गुरुवायूरकी मासिक यात्रा उनके लिये कठिन होती गयी। एक दिनकी घटना है, वे अपने आराध्य भगवान् श्रीबालकृष्णका दर्शन करने गुरुवायूर जा रहे थे। बीच रास्तेमें ही उनके पैर आगे बढ़नेमें शिथिल हो गये। वे थककर बैठ गये। उन्होंने गुरुवायूर पहुँचा देनेके लिये मन-ही-मन भगवान्से प्रार्थना की। अपने इष्टदेवके दर्शनके लिये उनका हृदय विह्वल हो उठा। भगवान् भक्तकी सान्त्वनाके लिये प्रकट हो गये। उन्होंने भक्त पूनतानम्को बालकृष्णके रूपमें दर्शन दिया। उनके अधरोंपर वंशी विभूषित थी, मस्तकपर मयूरपंखका

मुकुट समलंकृत था, गलेमें माला शोभित थी, कटिदेशमें क्षुद्रघंटिकाकी करधनी बड़ी रमणीय दीख पड़ती थी। भगवान्‌ने कहा कि 'अब आप यहींसे मेरी पूजा कर लीजिये, गुरुवायूर जानेकी आवश्यकता नहीं है'। जिस स्थानपर भगवान्‌ने दर्शन दिया था, वहाँ एक मन्दिरका निर्माण किया गया; क्योंकि वह स्थल बायीं ओर था, इसलिये इसका नाम 'वामपुर' रखा गया और वामपुरके मन्दिरमें प्रतिष्ठित भगवद्विग्रह 'वामपुराधीश' के नामसे विख्यात है।

महात्मा पूनतानम्‌के भगवद्धाम प्राप्त करनेका विचित्र विवरण उपलब्ध होता है। भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये नृत्योन्मादमें उन्होंने अपना भौतिक शरीर छोड़ दिया। एक दिन उन्होंने अपने आराध्य श्रीबालकृष्ण और मित्रोंको प्रीतिभोजमें पधारनेका निमन्त्रण दिया। जब भोजन बन गया और मित्रगण उपस्थित हुए, वे अपने प्रधान अतिथि श्रीबालकृष्णका स्वागत करनेके लिये अकेले ही सड़कपर आ गये। थोड़ी देरके बाद वे नाचते-गाते हुए भोज-स्थलपर पहुँचे। वे श्रीबालकृष्णके अङ्ग-प्रत्यङ्गका वर्णन करते हुए पद गा रहे थे। उन्होंने प्रमुख अतिथिके आसनके सामने मर्यादापूर्वक सभी पकवानोंसे पूर्ण भोजनकी थाली रख दी। प्रभुने उनके लिये प्रत्यक्ष उपस्थित होकर भोजन स्वीकार किया। भोजकी समाप्तिपर उन्होंने मित्रों और अन्य लोगोंके लिये अदृश्य भगवान्‌से अपनेको विमानमें बैठाकर वैकुण्ठ ले चलनेकी प्रार्थना की। उन्होंने कहा कि 'वैकुण्ठसे विमान आया हुआ है'। उनकी स्त्रीने लोगोंसे क्षमा माँगते हुए निवेदन किया कि 'बुढ़ापेसे मस्तिष्क कमजोर हो जानेसे वे अकबक कर रहे हैं।' महात्मा पूनतानम्‌के कथनमें उनके घरकी दासीने विश्वास किया। लोगोंके देखते-देखते दोनोंने एक ही साथ शरीर छोड़कर भगवद्धामकी यात्रा की। इस तरह आनन्द-नृत्योन्मादमें महात्मा पूनतानम्‌ने भगवान्‌का शाश्वत सांनिध्य प्राप्त किया। इस समय उनकी अवस्था ९३ वर्षकी थी। वे सन् १६४० ई० तक जीवित थे। महात्मा पूनतानम् भगवान्‌के अप्रतिम भक्त और असाधारण गृहस्थ संत थे। केरल प्रदेश ही नहीं, मध्यकालीन भारतके वे अनुपम भागवत-रत्न थे। उनका नाम अमर है।

श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना

(कार्तिक पूर्णिमा २०३० से चैत्र पूर्णिमा २०३१ तकके जपके सम्बन्धमें)

हमें यह सूचित करते हुए प्रसन्नता अनुभव होती है कि सदाकी भाँति गत वर्ष भी कार्तिक पूर्णिमा सं० २०३० वि० से लेकर चैत्र पूर्णिमा सं० २०३१ वि० तक 'कल्याण'के श्रीभगवन्नाम-प्रेमियोंने हमारी प्रार्थनापर ध्यान देकर श्रीषोडश नामका जप उत्साहके साथ किया है। नाम-जप-यज्ञमें अपनी आहुति डालकर उन्होंने अपनेको तथा हमें परम भाग्यशाली बनाया है। हम उनकी इस अहैतुकी कृपा एवं प्रीतिके लिये हृदयसे आभारी हैं। गत वर्षके जपके सम्बन्धमें कुछ उल्लेखनीय बातें ये हैं—

(१) भारतका शायद ही कोई प्रदेश या प्रधान नगर बचा हो, जहाँ जप न हुआ हो। विदेशोंमें भी जप हुआ है।

(२) बालक-युवा-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर, अपढ़-विद्वान् सभी तरहके लोगोंने जपमें भाग लिया है।

(३) षोडश-नाममन्त्रके अतिरिक्त अन्य मन्त्रोंका भी लोगोंने जप किया है।

(४) बहुत-से लोगोंने जप करनेकी सूचना तो दी है, किंतु संख्या नहीं लिखी है।

(५) कई व्यक्तियोंने अब इस क्रमको जीवनभर निभानेका निश्चय किया है।

(६) अधिकांश जप व्यक्तिगतरूपमें हुआ है, कुछ सामूहिकरूपमें भी।

इसी प्रकार गत वर्ष लगभग १२०० स्थानोंपर नाम-जप होनेकी सूचना हमें प्राप्त हुई है। स्थानोंके नाम अगले अङ्कमें प्रकाशित हो सकते हैं।

इस वर्ष पुनः श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना की जा रही है, जो इसी अङ्कमें अन्यत्र छपी है। श्रीभगवन्नाम-प्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे अनुरोध है कि वे सदाकी भाँति इस वर्ष भी बड़े ही उल्लास एवं उत्साहके साथ नाम-जप करें एवं करवायें।

शिक्षाका वास्तविक उद्देश्य

[लेखक—गोलोकवासी डा० (श्री) गोविन्ददासजी]

सृष्टिमें कोई भी वस्तु पूर्णतया पूर्ण और निर्दोष तो नहीं हो सकती, परंतु मानव हर वस्तुको निर्दोष बनानेका यत्न अवश्य करता है। किंतु चूँकि वह स्वयं पूर्ण नहीं है, इसलिये उसके समस्त कार्य अपूर्ण ही रहते हैं। इधर हजार वर्षोंके इतिहासमें कहीं भी शिक्षाकी कार्यपद्धति सर्वथा निर्दोष और सर्वमान्य नहीं रही है, परंतु शिक्षाकी वर्तमान पद्धति तो अत्यन्त शोचनीय और चिन्तनीय हो गयी है! सारे संसारमें कोई भी उससे संतुष्ट नहीं है। इसका प्रधान कारण यह है कि वर्तमान शिक्षा-पद्धतिके माध्यमसे मनुष्यको जानकारियाँ तो मिल जाती हैं, लेकिन सच्चे ज्ञानकी उपलब्धि न होनेसे मानवका निर्माण यह शिक्षा नहीं कर पाती। तथ्योंकी जानकारीसे मनुष्यका मस्तिष्क तो भर जाता है, परंतु उसकी अन्तरात्मा खाली-की-खाली बनी रहती है। न तो उसके अन्तःकरणमें जागरण होता है, न उसके हृदयमें शुभ भावनाओंका अवतरण। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि यह उस आहारकी भाँति है, जिससे भूख तो मिट जाती है, तृप्ति नहीं होती और न नया रक्त अथवा अन्य धातुओंकी शरीरमें अभिवृद्धि ही होती है। परिणाम यह होता है कि बिना रुचिके इस भोजनसे, जिसे हमारे शरीरकी प्राकृतिक प्रक्रिया स्वीकार नहीं करती, न तृप्ति होती है और न उसका परिपोष। समयके साथ उल्टे उसका ह्रास होने लगता है और अन्ततोगत्वा एक अवधि-पूर्तिके सदृश हमारा शरीर, मस्तिष्क और हृदय एक प्रवाहकी सरिताके समान सूख जाता है, समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि वर्तमान शिक्षा हमारे चरित्रको स्पर्श भी नहीं कर पाती और इससे मनुष्यके व्यक्तित्वको गढ़नेका कोई उपाय प्रतिपादित नहीं होता। यह कितना आश्चर्यजनक और दुर्भाग्यपूर्ण है कि शिक्षामें प्रशिक्षणद्वारा पशुको मानव बनानेका उपक्रम तो किया जाता है, किंतु मानवको मानव बनानेका नहीं! या इसे यों कहें कि पशुकी पशुता दूर करनेके प्रयत्न तो किये जा रहे हैं, जब कि मनुष्यमें अन्तर्निहित पाशविकताको उल्टा बढ़ाया जा रहा है। यही क्या, उसे मानवसे कुछ और बनानेके सभी प्रयत्न आधुनिक शिक्षामें किये जा रहे हैं।

मनुष्यको छोड़कर अन्य किसी जीवको 'शिक्षित' नहीं किया जा सकता; क्योंकि निसर्गने जो ज्ञानशक्ति मनुष्यको दी है, वह अन्य किसी प्राणीको नहीं। अन्य जीवोंको केवल 'प्रशिक्षण' दिया जा सकता है, जैसे सरकसके सिंह, हाथी, घोड़े, बंदर, बकरे और तोता-मैना आदिको। 'शिक्षण' और 'प्रशिक्षण'के इस बुनियादी भेदको समझना बहुत आवश्यक है। शिक्षाका सूत्र, उसका स्रोत अन्तस्में है। वह एक संस्कार है, जो बीजरूपसे अङ्कुरित हो वृक्ष बनता है और उसमें पुष्प एवं फल लगते हैं, जब कि प्रशिक्षण मात्र अभ्यास है, यह उस पौधेकी भाँति है, जो पुष्प और फलोंसे रहित रिक्त स्थानकी पूर्तिके लिये, सजावटके किसी स्थलपर क्षणिक महत्त्वके लिये रोपा जाता है। शिक्षा एक प्राकृतिक संस्कार है और प्रशिक्षा एक कृत्रिम वस्तुमात्र। पहलेका सम्बन्ध अन्तस्से है तो दूसरेका बाहरसे; पहला प्राकृतिक है तो दूसरा कृत्रिम। एक विकासशील प्राणतत्त्व है तो दूसरा ह्रासोन्मुख निर्जीव पदार्थवत्। इस प्रकार प्रशिक्षण ऊपरसे जबरदस्ती थोपा हुआ ढाँचा है। शिक्षा ऊपरसे थोपी नहीं जाती, वरन् अन्तस्को जगाकर दी जाती है। जिस प्रकार पानीके हौजमें पानी ऊपरसे भरा जाता है, उसी प्रकार प्रशिक्षण ऊपरसे दिया जाता है। जब कि शिक्षण पानीसे भरे हुए कुएँकी भाँति है, जो भीतरी झरनोंसे भरता है। अंग्रेजी शब्द 'एज्यूकेशन'का अर्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उसका अर्थ है—'भीतरसे बाहर निकालना।' उसका अर्थ बाहरसे भीतर डालना नहीं है। पर हम जो कुछ कर रहे हैं, वह बाहरसे भीतर डालना है। इसे शिक्षा कैसे कहा जा सकता है? यह मात्र प्रशिक्षण है और यही कारण है कि जिसे हम शिक्षित होना कहते हैं और जिसे हमारे विश्वविद्यालयतक सम्मानित करते हैं, वह जीवनकी व्यापक और बृहत् परीक्षामें असफल हो जाता है। ऐसा शिक्षित जन केवल रटा हुआ तोता होता है। उसमें स्वयं विचारकी न तो कोई ऊर्जा होती है और न जीवनको निर्देशित करनेका कोई विवेक। वह पानीकी लहरोंपर बहते हुए लकड़ीके उस लट्ठेकी भाँति होता है, जिसे लहरें जहाँ ले जाती हैं, चला जाता है।

प्रशिक्षणका शिक्षणके रूपमें इस भाँति प्रचलित होना तकनीकी—शिक्षाके प्रति बढ़ते हुए प्रभावके कारण हुआ; क्योंकि तकनीकीका प्रशिक्षण ही हो सकता है, शिक्षण नहीं। सारा संसार चूँकि भौतिक समृद्धिके लिये लालायित है और हमारा देश तो गरीबीके कारण और भी अधिक, इसलिये तकनीकी ज्ञानको ही प्रमुखता मिली है। हम तकनीकी ज्ञानकी और उसके द्वारा होनेवाली भौतिक समृद्धिके विरुद्ध नहीं हैं। संसारके लिये और हमारे लिये वह भी आवश्यक है, किंतु इससे जो हमारा अनिष्ट हो रहा है, उसकी दिनोंदिन बढ़ती हुई सम्भावनासे हमारे बुनियादी जीवनका जो आधार खोखला हो रहा है, उससे अब हम अधिक समयतक अपनी आँख मूँदे नहीं रह सकते। अपनी अयोग्यताको छिपाकर केवल अभ्यासके बलपर हम आखिर कहाँतक आगे बढ़ सकेंगे। परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके लालचमें नकल कर कोई भी विद्यार्थी जीवनरूपी परीक्षामें सफल हो सकेगा, यह स्पष्टतया असम्भव है। इस प्रकार सच्ची शिक्षाके अभावमें यह प्रशिक्षण हमारे जीवनको दरिद्र और एकाङ्गी बना रहा है। इसीके साथ इसके कुछ भयानक नतीजे भी निकल रहे हैं। तकनीकी ज्ञान भौतिक जगत्के नियन्त्रणके लिये आवश्यक है, परंतु जिसे मैं सच्ची शिक्षा समझता हूँ, उसके द्वारा शिक्षित न होनेके कारण मनुष्य अपनेपर नियन्त्रण नहीं कर पा रहा है। स्वयंपर इस अनियन्त्रणके कारण उसका पदार्थ-ज्ञान एवं भौतिक वस्तुओंका आधिपत्य वैसा ही है, जैसा अबोध बच्चेके हाथमें तलवार देना। पिछले दो महायुद्ध इसके प्रमाण हैं और हम आज भी उसी दिशामें बढ़ रहे हैं। हमें इन महायुद्धोंसे चेतावनी नहीं मिली। यदि मनुष्य व्यष्टि और समष्टि रूपसे सचेत नहीं होता तो अनियन्त्रित मनुष्यके हाथमें प्रकृतिकी नियन्त्रित शक्तियाँ आत्मघात सिद्ध होंगी। इसकी चरम परिणति समस्त मानवताके अन्तमें हो सकती है। अतः भौतिक वस्तुओंपर नियन्त्रणके पूर्व मनुष्यका उससे कहीं अधिक स्वयंपर नियन्त्रण होना आवश्यक है; क्योंकि शक्ति केवल संयमीके हाथोंमें सुरक्षित रहती है। असंयमी, अविवेकीके शक्तिशाली होनेसे तो भस्मासुरकी पुनरावृत्ति अवश्यम्भावी होगी।

जो शिक्षा मनुष्यके सृजनकी शिक्षा न होकर उसके संहारका कारण बनती है, उसे शिक्षा कैसे कहा जा सकता है? शिक्षाका अर्थ ही सदिच्छा है, सद्भावका प्रसार करना है। एक ऐसे ज्ञानका विस्तार शिक्षातत्त्वमें निहित है, जो व्यष्टिके माध्यमसे समष्टिके कल्याणका केन्द्र बने। तकनीकी ज्ञान शिक्षाका प्रधान अङ्ग कभी नहीं होना चाहिये; वह गौण ही रहना चाहिये। मानवीय मूल्योंकी स्थापना ही शिक्षाका केन्द्रीय तत्त्व है। तकनीकी ज्ञानसे उपार्जित वस्तुएँ जीवनयापनका साधन हो सकती हैं, साध्य नहीं। साध्य तो मनुष्य स्वयं है। इस साध्यकी प्राप्तिके लिये ही शिक्षा उसका शस्त्र है, एक साधन है। वर्तमान शिक्षा-पद्धतिमें हुआ यह है कि जो साध्य है, वह साधन बन गया है और जो साधन है, वह साध्य। इस प्रकार साधनको साध्यके ऊपर रखना घातक सिद्ध हुआ है। आध्यात्मिक शिक्षा और भौतिक शिक्षाका यही एक भेद है। भौतिक शिक्षामें साधन साध्य बन जाते हैं और आध्यात्मिक शिक्षामें साधन साधन ही रहते हैं और साध्य साध्य। यदि आवश्यकता पड़े एवं कोई अन्य विकल्प शेष न रहे तो सच्ची शिक्षा साधनोंका परित्याग कर सकती है, लेकिन साध्यका नहीं। उसकी दृष्टिमें वे सब साधन सम्यक् हैं, जो जीवनकी चरम साध्यकी उपलब्धिमें सहयोगी हैं, इसके विपरीत पड़ते ही वे व्यर्थ और त्याज्य हो जाते हैं।

ऐसी शिक्षा, जो हमारे श्रेयको पुष्ट करती है, विवेकको सशक्त बनाती है, जीवनमें प्राणदायी तत्त्व भरती है, हमारे लिये इष्ट है। यज्ञपूर्ण जीवनका निर्माण शिक्षाका उद्देश्य है, यज्ञशून्य जीवन ही अशिक्षित और असंस्कृत जीवन है; यही पशुता है। पशु तो पशु है ही, अशिक्षा मनुष्यको भी पशु बना देती है। जो जानते हैं, उन्होंने 'पशु' उसे कहा है—'जो वासनाओंके पाशमें बँधा हो।' मानवमें भी पशुता है, पर सच्ची शिक्षा उसे अपने ही पशुपर योग्य सवार बना देती है। शिक्षा इस पाशसे मुक्त करती है और तभी वस्तुतः सच्चे मानवका जन्म होता है।

बंदी-मुक्ति *

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

एक राज्यके राजाको मार दिया गया था। श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेन—तीनों शस्त्रहीन थे और वहाँ केवल वह गदा थी, जो जरासंधके हाथमें थी। दूसरी बात यह कि अब बंदी राजाओंकी मुक्तिमें एक क्षणका भी विलम्ब अकारण था। यह विलम्ब श्रीकृष्णको सह्य नहीं था। वे तीनों तत्काल वहाँसे निकले।

देवराज इन्द्रके लिये विश्वकर्माने पहले एक दिव्यरथ बनाया था। उसीमें बैठकर इन्द्रने अनेक बार दानवोंपर विजय प्राप्त की थी। उसके ऊपर एक इन्द्रधनुषके समान चमकती ध्वजा थी, जो बिना ध्वज-दण्डके ही फहराती रहती थी। उस सौन्दर्यवान् नामक रथमें दो महारथी एक साथ बैठकर युद्ध कर सकते थे। वह स्वर्णनिर्मित, अनवरुद्धगति, वायुवेग रथ इन्द्रने ययातिको दिया था। वह कुरुवंशमें वंशपरम्परासे राजा वसुतक रहा। चेदिराज वसुने उसे अपने मित्र मगधराज बृहद्रथ-को दे दिया। पिताका वह रथ जरासंधके पास था। श्रीकृष्णचन्द्रने मल्लशालासे निकलकर सीधे उस रथपर अधिकार किया। उसमें अश्व जोड़े और भीम तथा अर्जुनको बैठाकर स्वयं सारथि बने।

इस कार्यसे दो बातें श्रीद्वारकाधीशने साध लीं। कोई चाहे तो भी अब उस महावेग रथका पीछा करनेका कोई साधन गिरिव्रजमें किसीके समीप नहीं था। दूसरे—बंदी नरेशोंके साथ कोई दुर्व्यवहार करने अब वहाँ पहले नहीं पहुँच सकता था; क्योंकि अनेक बार ऐसे अवसरोंपर झुँझलाहटमें क्रूर लोग बंदियोंको मार देते हैं। बंदियोंकी मुक्तिके लिये आये लोगोंने उनके अधिपतिको मारा, अतः उनका आक्रोश बंदियोंपर उतरे, यह अस्वाभाविक तो नहीं ही है।

वे छियासी नरेश विभिन्न राज्योंके थे। विभिन्न समयोंपर मगधराज उन्हें पराजित करके पकड़ लाया था। लेकिन गिरिव्रजकी पर्वतीय खोहके कारागारमें पहुँचकर सबकी समान अवस्था हो गयी थी। वे परस्पर मित्र बन गये थे। उनके श्मश्रु एवं केश बढ़ गये थे। रूखे-उलझे हो गये थे। नख बढ़ गये थे। वस्त्र और शरीर भी मलिन थे। सब बहुत कृश तथा कान्तिहीन हो गये थे।

मगधराजने उनको आहार देनेमें कोई कृपणता नहीं की थी। उन्हें स्नानके लिये जल भी मिलता था; किंतु वस्त्र तथा देह भली प्रकार स्वच्छ हो सके, इतनी सुविधा उन्हें नहीं थी और न उनमें यह सब करनेका उत्साह ही था। उन्हें पता था कि जरासंध उनकी संख्या सौ होते ही उनकी बलि देनेवाला है। वे तो जीवनसे निराश मृत्युकी घड़ी गिननेवाले लोग थे। इस भयने उनका शरीर कङ्कालप्राय बना दिया था। उनके नेत्रोंके चारों ओर गाढ़ी कालिमा छा गयी थी और उन्हें सर्वत्र अन्धकार ही दीखता था।

एक क्षीण आशा एक दिन उनमेंसे किसीके मनमें जाग्रत् हुई—'भगवान् वासुदेव शरणागतवत्सल हैं! उनके श्रीचरणोंतक पहुँची हुई प्रार्थना कभी अफल नहीं होती। उन चक्रपाणिने इस मदमत्त जरासंधको सत्रह बार पराजित करके मृत्युके मुखतक पहुँचाकर छोड़ दिया है। क्या हुआ जो नर-नाट्य करते हुए वे एक बार इसके सम्मुखसे भागे। उन ब्रह्मण्य-देवने इसे मिले ब्राह्मणोंके आशीर्वाद-का सम्मान किया। वे ही समर्थ हैं—एकमात्र वे समर्थ हैं हम सबको इस विपत्तिसे बचा लेनेमें।'

बात सबको ही ठीक लगती थी; किंतु बहुत कठिन

* अप्रकाशित 'श्रीकृष्ण-चरित'के 'पार्थ-सारथि'-खण्डका एक अध्याय।

समस्या थी—'श्रीद्वारकाधीशके चरणोंतक प्रार्थना पहुँचे कैसे ?'

इतने नरेश बंदी थे गिरिव्रजमें और उनमें किसीके स्वजन, स्नेही नहीं थे और वे उनकी ओरसे उदासीन थे, यह बात क्या मानने योग्य है ? अवश्य जरासंधके भयके कारण कोई प्रत्यक्ष कुछ नहीं कर सकता था; किंतु गिरिव्रजमें उन राजाओंके हितैषी थे। उनमें ब्राह्मण ही अधिक थे; क्योंकि मगधराज ब्राह्मणोंका सत्कार करता था। ऐसे हितैषियोंके प्रयत्नसे ही बंदी राजाओंकी प्रार्थना लेकर द्वारका दूत गया था।

दूत मगधकी सीमासे सकुशल निकल गया, यह समाचार जैसे ही उन बंदी नरेशोंको मिला, उनको विश्वास हो गया कि अब उनकी कारागारसे मुक्ति सुनिश्चित है। जो कर्मपाशको काट देते हैं, उन दयाधामतक किसी आर्तप्राणकी पुकार पहुँचेगी और मगधराजके कारागारके कपाट बंद बने रहेंगे ?

'वे जनार्दन आते होंगे ! उन चक्रायुधका चक्र या गदा गिरिव्रजका विनाश करनेवाली ही है। आते होंगे वे कमललोचन !' मृत्युका भय उसी समय मिट गया और श्रीकृष्णके आगमनकी प्रतीक्षा होने लगी। मरणासन्न प्राणीको जीवनदान मिलनेका आश्वासन हो तो उसके प्राणोंकी उत्सुक प्रतीक्षाका अनुमान कर लीजिये।

दूत लौट आया और उसने गुप्तरूपसे ही संदेश भेज दिया—'श्रीद्वारकाधीश आनेवाले हैं। उन्होंने अभय दिया है। जरासंध अवश्य मरेगा !'

'अच्छा हुआ कि वे सेना लेकर नहीं आये।' राजाओंने द्वारकाधीशकी राजसभामें हुई प्रतिक्रियाका संवाद पाया तो मन-ही-मन उद्धवकी प्रशंसा की—'धन्य हैं वे यादव महामन्त्री ! अन्ततः देवगुरुके साक्षात् शिष्य हैं और भगवान् पुरुषोत्तमके स्नेहभाजन युद्ध छिड़ता तो कौन जानता था कि दुर्बल पड़नेपर दुष्ट जरासंध हम इतनोंको ही बलि-पशु बनाकर कोई उग्र अनुष्ठान पूरा न करता।'

प्रतीक्षा—उत्कटतम प्रतीक्षामें अहर्निश लगे आतुर प्राण और वह भी श्रीकृष्णकी प्रतीक्षा। उन माधवका निरन्तर चिन्तन, उनके आगमनकी प्रतीक्षा ! ऐसा प्रगाढ़ चिन्तन कि कोई मुनीन्द्र भी क्या करेंगे। इस चिन्तन और प्रतीक्षाका हेतु क्या था, यह प्रश्न व्यर्थ है। श्रीकृष्णचन्द्र तो घृणा या द्वेषसे भी हृदयमें आ जायँ तो जीव मुक्त हो जाता है; ये तो उनके शरणागत होकर उन्हींका सर्वात्मना आश्रय लेकर उनके चिन्तनमें लगे थे। फलतः अन्तःकरण निर्मल हो गया। देहका मोह मिट गया। मृत्युका भय पता नहीं कब समाप्त हो गया। केवल प्रतीक्षा—विशुद्ध प्रतीक्षा बच गयी—'वे परमपुरुष कब पधारेंगे ! हमारे नेत्र धन्य होंगे उनका दर्शन करके। हम उनके सुरमुनिवन्द्य पाद-पद्मोंमें प्रणिपात करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकेंगे।'

'वे गिरिव्रज आ गये और मगधराज उनमेंसे भीमसेन-के साथ गदायुद्ध करनेमें लगा है। वह उनके साथ ही अब मल्लशालामें रहता है।' यह समाचार भी किसी प्रकार उस गुहा-कारागारमें पहुँच ही गया; क्योंकि वे समाचार पानेको समुत्सुक थे और उनके हितैषी नगरमें थे।

'धन्य है जरासंध ! अनन्त पुण्य किये होंगे पूर्व-जन्ममें इस मगधराजने।' विशुद्ध हृदयमें राग-द्वेष रहा नहीं करते। राजाओंका अन्तःकरण श्रीकृष्ण-चिन्तनने निर्मल कर दिया था। वे सोचने लगे थे—'कितना महान् सौभाग्य पाया इसने। वह भीमसेनसे गदायुद्ध करता रहता है और भगवान् पुरुषोत्तम समीप उपस्थित रहकर उसे देखते रहते हैं। रात्रिमें भी वह उनके समीप ही

सोता है। जो ऋत्विग्योंके सविधि यज्ञमें भी परोक्ष आहुति लेते हैं, वे यज्ञपुरुष इस समय अतिथि हैं मगधराजके।'

'जरासंध इन पुरुषोत्तमकी संनिधिमें प्राणत्याग करेगा, इनका दर्शन करते मरेगा।' इस भव्य भावनाने हृदयको दूसरी दिशा दी—'हम सबके साथ ही मगधराजने क्या अपकार किया ? हमारा इतना बड़ा हित तो दूसरा कोई नहीं कर सकता था। जो गुरु नहीं कर सके, पुरोहित नहीं कर सके, वह किया जरासंधने। हम सब राजमदमें मत्त, ऐश्वर्य-भोगमें डूबे, मृत्युको भूले अपने परम कल्याणसे ही उदासीन हो रहे थे। ऐसे ही मर जाते और भटकते रहते भवाटवीमें। हमें बंदी बना कर मगधराजने कृपा की। भोगोंसे, पद-प्रतिष्ठाकी लिप्सासे, परस्परकी स्पर्धासे मुक्त कर दिया और उसीकी अनुकम्पासे अब जनार्दनके दर्शन प्राप्त होंगे।'

'जनार्दनके दर्शन प्राप्त होंगे।' दृढ़विश्वास है प्राणोंमें और अब केवल दर्शनोंकी उत्कण्ठा है। अभीप्सा बन गयी है वह। द्वार खटकता है, कोई द्वारपाल भी आता है तो पदध्वनि सुनते ही सब-के-सब चौंकते हैं, उठ खड़े होते हैं—'आये जनार्दन'!'

सचमुच वे जनार्दन आ गये। उनका रथ आकर उस कारागारके बाहर रुका। भीमसेनने रथसे उतरकर द्वारको उखाड़ फेंका और श्रीकृष्णचन्द्र प्रविष्ट हुए उस द्वारसे। ये अशरणशरण ऐसे ही सदा अपने पुकारनेवालोंको परित्राण देते आनेके अभ्यासी हैं।

सजल जलद श्याम वपु, विद्युत्के समान चमकता पीतपट, चतुर्भुज, घुँघराली अलकोंसे घिरा श्रीमुख मन्द-स्मित शोभित पुण्डरीकाक्ष अपने विशाल दृगोंसे अनन्त-अनन्त कृपा-धाराकी वर्षा करते कारागारके द्वारमें प्रविष्ट हुए।

बंदी नरेशोंने देखा और एक साथ भूमिपर दण्डवत् गिरे। सबने अनुभव किया कि उन पूर्णपुरुषने उन्हें अपनी विशाल बाहु बढ़ाकर उठा लिया है।

अञ्जलि बाँधकर, नेत्रोंसे अश्रु-वर्षा करते गद्गद स्वरमें स्तुति करने लगे। सबका एक ही तात्पर्य था—'स्वामी! हम तो भटक रहे थे आपकी मायासे मोहित होकर। हमें अपने धन, बल, राज्य-प्रभावका बड़ा घमंड था। पता ही नहीं था कि आप कालस्वरूपके सम्मुख यह सब कितना तुच्छ है। हम अनुभव करते हैं कि मगधराजके रूपमें आपका अनुग्रह उतरा और हम उस मोहसे जागे। जरासंधने हमें राज्यभ्रष्ट करके, बंदी करके विवेकनेत्र प्रदान किये। हमें अपनी शक्ति-की तुच्छता ज्ञात हुई और सबसे बड़ी बात हुई कि आपके श्रीचरणोंका दर्शन हुआ। आपका दर्शन अमोघ है, अतः अब यह वरदान दें कि आपके इन पाद-पद्मोंकी स्मृति सदा बनी रहे।'

अन्धकार बढ़ रहा था। अतः उन सब बंदी राजाओंको लेकर श्रीकृष्णचन्द्र उस पर्वतीय कन्दरा-कारागारसे निकले और बाहर विस्तृत मैदानमें आ गये। राजाओंसे उन्होंने कहा—'आप सब अपने राज्योंको जाकर धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करें। मेरा स्मरण करते रहें। धर्मराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करनेवाले हैं, उसमें आप सबको उनकी पूरी सहायता करनी है।'

यह चर्चा चल ही रही थी कि नगरकी ओरसे स्वागतमें बजते वाद्य, शङ्ख-ध्वनिका स्वर सुनायी पड़ा। जलती मशालें लिये बहुत अधिक लोग आ रहे थे और उनकी ध्वनि सुनायी पड़ने लगी थी—'भगवान् वासुदेव-की जय! पुरुषोत्तम श्रीद्वारकाधीशकी जय!'

'मगधराज मारे गये! भीमसेनने उन्हें चीर डाला!' मल्लशालासे सेवक यह चिल्लाते-पुकारते नगरमें गये थे। उस समय जरासंधका कोई सहायक नरेश मगधमें

नहीं था। शिशुपाल अपनी राजधानीमें था और दूसरा भी कोई वहाँ आया नहीं था। राजकार्य-संचालनका भार जरासंध पहले ही अपने पुत्र सहदेवको देकर सत्ताईस दिन पहले मल्लशाला गया था।

द्वन्द्व-युद्ध करना था, अतः सेनाको भी सावधान नहीं किया गया था। राज्यमें शान्तिकालीन साधारण स्थिति थी; किंतु राजकुमार सहदेव पहले दिनसे ही इस परिणामके लिये प्रस्तुत थे। उन्हें निश्चय था कि उनके पिता मल्लशालासे नहीं लौटेंगे। उन्होंने मल्लशालाको प्रस्थान करते पिताको बहुत श्रद्धासे प्रणाम किया था।

जरासंध धार्मिक था, पवित्र कुलमें उत्पन्न हुआ था, ब्राह्मणभक्त था और प्रजापालक था। उसके सब सद्गुण पुत्रमें आये थे; किंतु पिताका अहंकार सहदेवमें नहीं था। कोई लौकिक महत्त्वाकाङ्क्षा भी न थी। फलतः उनका हृदय निर्मल एवं सात्त्विक था और उसमें श्रीहरिके प्रति भक्ति थी।

'पिता महान् हैं।' सहदेवके मनमें श्रीहरिकी भक्तिने पिताके प्रति अविनय नहीं, आदर-बुद्धि उत्पन्न की थी। वे अपने ढंगसे सोचते थे—'अपने पराक्रमसे वे श्रीहरिकी अर्चना करते हैं। उनका अलौकिक शौर्य भी तो उन भुवनेश्वरकी सेवामें लगना चाहिये। वे अपने अतिमानव प्रतापके अनुरूप ही जनार्दनका चिन्तन करते हैं।'

बार-बार सहदेवको ही राज्य-संचालन सौंपकर जरासधने मथुरापर चढ़ाई की थी। प्रजापालन सहदेवके लिये नवीन कार्य नहीं था। पिताकी इन चढ़ाइयोंके सम्बन्धमें उनका अपना दृष्टिकोण था—'जो परम प्रभु भू-भार-हरणार्थ ही अवतीर्ण हुए हैं, वे अपने इस कार्यमें किसी हीन सत्त्वको तो माध्यम नहीं बना सकते। उन्होंने पिताको उपयुक्त माध्यम माना है।'

जो इस प्रकार अपने पिताकी मथुरापर की जानेवाली चढ़ाइयोंमें भी उन पुरुषोत्तमकी ही प्रेरणा देखता रहा हो, उस जन्मसिद्ध भगवद्भक्तको तब बहुत प्रसन्नता होनी ही थी, जब जनार्दन गिरिव्रज आये। जरासंधने जब पुत्रको शासन सौंपा तो सहदेवने अपने मनमें कहा—'मैं ऐसे पिताका पुत्र होकर धन्य हुआ। पुरुषोत्तम स्वयं मगधराजको अपने पावन पदोंमें स्वीकार करने पधारे और वैसे ही याचक होकर आये, जैसे कभी दैत्यराज बलिके यहाँ पधारे थे।'

मल्लशालाके सेवक रोते-चिल्लाते नगरमें आये तो सहदेव समाचार पाकर चौंके नहीं, न शोकमग्न हुए। उन्होंने सुनते ही आज्ञा दी—'हम उन परमपुरुषका स्वागत करेंगे! मगधराजको तो उन्होंने मुक्त कर दिया। उनकी उपस्थितिमें देह त्यागकर पिता तो उनके दिव्यधामको पधारे! उनके लिये शोक क्या! अब मगध उन हृषीकेशका है और हम सब उनकी प्रजा हैं। हमारा पहला कर्तव्य है कि हम उनका स्वागत करें। फिर जो आज्ञा वे देंगे, उसका पालन किया जायगा।'

सृष्टिने कम ऐसे भगवद्भक्त देखे हैं। पिताका शव पड़ा था मल्लशालामें और उन्हें मारनेवालोंका स्वागत करने सहदेव तत्काल चल पड़े। उन्हें पता लग गया था कि जरासंधका रथ लेकर श्रीकृष्णचन्द्र उसमें अर्जुन और भीमसेनको बैठाकर नगरसे निकले हैं और बंदीगृहकी ओर गये हैं। सहदेवने कहा—'वे मधुसूदन उन बंदी नरेशोंको मुक्त करने ही गये हैं। वे भवपाशछेत्ता हैं—शरणागतको त्राण देना उनका स्वभाव ही है।'

पिताकी मृत्युका शोक नहीं, रोष नहीं और उसके लिये कोई भी प्रतिक्रिया नहीं। पिताके शवका क्या होगा, यह सोचातक नहीं। ब्राह्मणोंको बुलवाया, वाद्य लिये और अर्पणके लिये मगधके राजकोषके दुर्लभतम रत्नोपहार साथ लिये। सेवकोंने जलती मशालें लीं। सहदेव पैदल चल पड़े कारागारकी ओर स्वागत करने।

'भगवान् वासुदेवकी जय !'

'श्रीद्वारकाधीशकी जय !'

'अशरणशरण श्रीकृष्णचन्द्रकी जय !'

तुमुलनाद निकट आता गया। श्रीकृष्णचन्द्र नरेशोंके समीपसे इस आते जनसमूहकी ओर आगे बढ़े। सहदेवने उपहार-राशि सेवकोंको अर्पित करनेका संकेत किया और स्वयं भूमिपर गिरा—'जरासंधतनय सहदेव परमपुरुष पुरुषोत्तमके चरणोंमें प्रणिपात करता है !'

लगभग दौड़कर श्रीकृष्णचन्द्रने उठाया सहदेवको और हृदयसे लगा लिया। उनके कमल-दृगोंके बिन्दु राजकुमारकी अलकोंको आर्द्र करने लगे—'सहदेव ! मेरे बच्चे !' उनके अभय कर देरतक सहदेवका सिर और पीठ सहलाते रहे।

'मगध धन्य हो गया और धन्य कर दिया आपने मगधेश्वरको !' सहदेव देरमें बोल सके और भरे कण्ठसे ही बोले—'आपने मुझ-जैसे अबोध अल्पज्ञको भी 'पुत्र' कहकर कृतार्थ कर दिया ! अब मगधका राज-सदन श्रीचरणोंसे पवित्र करें और अपने आज्ञापालनका सौभाग्य भी मुझे दें।'

श्रीकृष्णचन्द्रने वहीं अपने हाथसे सहदेवके मस्तकपर मुकुट रख दिया और कहा—'पहला काम है कि पिता-के शरीरकी उत्तर-क्रियाकी व्यवस्था करो और इन नरेशोंको स्नानादि कराकर राजोचित वस्त्राभूषणसे अलंकृत कराओ। इन्होंने बहुत दिनोंतक कारागारका कष्ट उठाया है। इनकी सेवाको प्राथमिकता मिलनी चाहिये।'

सहदेवने हाथ जोड़कर नरेशोंसे पिताके अपराधके लिये क्षमा माँगी तो सबके नेत्र भर आये। उन सबका स्नेह उमड़ उठा युवराज सहदेवके प्रति। वहाँसे सब राजसदन पैदल ही आये। बहुत आग्रह करनेपर भी श्रीकृष्णचन्द्रने रथपर बैठना स्वीकार नहीं किया।

नरेशोंको स्नानादि करवानेके लिये सेवक लगा दिये गये। उनको उपमर्दनके द्वारा स्वच्छ करके उष्णोदकसे स्नान कराकर उत्तम वस्त्र, रत्नाभरण, अङ्गराग, चन्दन आदिसे सत्कृत करके भोजन कराया गया।

राजाओंको इसका पता नहीं लगने दिया गया कि उस रात मगधके लोगोंने, सहदेवने और श्रीकृष्णचन्द्रके साथ भीमसेन और अर्जुनने भी उपवास किया था। प्रातः स्नानादिके पश्चात् राजाओंको पुनः भोजन कराकर रथ तथा धन देकर उनके राज्योंके लिये श्रीकृष्णचन्द्रने विदा किया। सहदेवने उन्हें उपहार दिये और फिर क्षमा-याचना की। सबने सहदेवको अपनी मैत्रीका आश्वासन दिया।

मन्त्री, पुरोहित आदि श्रीकृष्णचन्द्रकी आज्ञासे बुलाये गये। श्रीकृष्णचन्द्रने मगधके राजसिंहासनपर अपने करोंसे सहदेवको बैठाकर उनका तिलक किया। राज्याभिषेक हो जानेपर सहदेवने जो बहुत अधिक उपहार अर्पित किये, उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रने सहदेवको* प्रसन्न करनेके लिये स्वीकार कर लिया। मगधराजका वह दिव्यरथ भी सहदेवने श्रीकृष्णको दे दिया यह कहकर—'इसे आपने स्वयं स्वीकार कर लिया है तो अब अपना पुत्र मुझे मानकर इसे द्वारका ले जायँ।'

श्रीकृष्णचन्द्रने सहदेवसे विदा लेते समय कहा—'अब तुम पिताकी उत्तर-क्रिया सम्पन्न करो। वे महामानव थे और अब तो मुक्त हो गये। धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें आना। दुर्जन नरेशोंकी संगतिसे अब दूर रहना।'

भीमसेन तथा अर्जुनको मगधराजके उसी दिव्य रथमें बैठाकर श्रीकृष्णचन्द्र इन्द्रप्रस्थके लिये प्रस्थित हुए।

* इनका एक नाम जयत्सेन भी था।

गायत्री-मन्त्र

(लेखक—डॉ० श्रीसर्वानन्दजी पाठक, एम्० ए०, पी-एच्० डी० (द्वय), डी० लिट्०)

गायत्री-मन्त्र महामन्त्र है । यह मानवरचित नहीं, अपितु अनादि, सनातन एवं अपौरुषेय है—किमधिकम्, अनादि शब्द ब्रह्मरूप ही है । यह महामन्त्र मन्त्रद्रष्टा परमर्षि विश्वामित्रद्वारा दृष्ट-अनुभूत श्रौत-वैदिक महामन्त्र है । अनादि होनेके कारण सामान्य मन्त्रोंके समान छन्दोबन्धनमें बद्ध होकर इसका प्रादुर्भाव नहीं हुआ, अतः यह स्वयम्भू मन्त्र है । विश्वके प्राचीनतम वाङ्मय ऋग्वेदके तृतीय मण्डलके बासठवें सूक्तके दशम मन्त्रमें ऋक्-रूपसे इसका दर्शन मिलता है । पुनः यजुर्वेद (३ । ३५, ३० । २, ३६ । ३)—में यजुःरूपसे तथा सामवेदके उत्तरार्चिकके त्रयोदश अध्यायके तृतीय खण्डके तृतीय मन्त्रमें यह सामरूपसे अवतीर्ण हुआ है । गायत्रीके सम्बन्धमें शास्त्रीय उद्घोष है कि इस लोक और स्वर्गलोकमें गायत्रीके समान कोई पवित्र मन्त्र नहीं है । इस पवित्र मन्त्रसे हवन करनेपर उपासकके समस्त मनोरथ परिपूर्ण हो जाते हैं[1] ।

यहाँ प्रसङ्गतया इस स्वयम्भू श्रौत-मन्त्रका थोड़ा शब्द-शास्त्रीय और छन्दःशास्त्रीय विवेचन कर लेना अनुचित न होगा ।

'कै, गै—शब्दे' धातुसे वर्तमानकालिक 'शतृ' प्रत्यय करनेसे 'गायत्' शब्द सिद्ध होता है और तब इसका अर्थ होता है—गाता हुआ अथवा गानेवाला । तत्पश्चात् पालनार्थक 'त्रै' धातुके आगे **'आतोऽनुपसर्गे कः ।'** (पा० ३ । २ । ३) सूत्रसे 'क' प्रत्यय करनेसे अथवा **'गायेन-गानेन त्रायते ।'** (पा० ३ । २ । ४) से 'क' प्रत्यय करनेसे 'गायत्र' शब्द निष्पन्न होता है । तदनन्तर 'गायत्र' शब्दके अन्तमें स्त्रीलिङ्ग-विधायक 'ङीप्' प्रत्ययके लगनेपर निष्पन्न 'गायत्री' शब्दका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होता है—**'गायन्तम्—जपन्तम् त्रायते—गानेन वा त्रायते सर्वतोभावेन रक्षतीति गायत्री; वेदमाता इत्यर्थः ।'** अर्थात् यह गायत्री गान-ध्यान-जप करनेवाले साधकका सार्वत्रिक—ऐहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याण करनेवाली है ।

छन्दःशास्त्रके नियमानुसार प्राजापत्य गायत्री छन्दमें तीन पाद होने चाहिये और प्रत्येक पादमें आठ-आठ अक्षर अपेक्षित हैं अर्थात् सम्पूर्ण मन्त्रमें ८+८+८=२४ अक्षर पिङ्गलाचार्यने निर्दिष्ट किये हैं ।[2] किंतु इस ब्रह्मगायत्रीका श्रौतरूप इस प्रकार है—**'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।'** इस रूपमें गायत्रीके प्रथम पादमें आठ अक्षर न होकर केवल सात ही हैं और यही देखकर एक आलोचक सज्जनने इसे छन्दोभ्रष्ट तथा वर्ण (छन्दः)—संकर भी घोषित कर दिया है । यहाँ इसके प्रत्यालोचनात्मक समाधानमें आचार्य पिङ्गलका ही मत उल्लेखनीय है । आचार्यका प्रतिपादन है कि गायत्री-प्रभृति छन्दोंके पादमें जहाँपर अक्षरोंकी संख्या न्यूनतर हो, वहाँ 'इय्' और 'उव्' प्रभृतिसे उस न्यूनतरताका पूरण कर लेना विधेय है[3] । तदनुसार जपकर्ताको प्रथम पादमें **'तत्सवितुर्वरेण्यम्'**के स्थानमें **'तत्सवितुर्वरेणियम्'** ऐसा उच्चारण कर लेना चाहिये । इसके ऋषि 'विश्वामित्र' हैं और इस मन्त्रके देवता 'सविता' हैं । सवितासे सम्बद्ध होनेके कारण यह 'सावित्री' नामसे भी प्रसिद्ध है और यदि आचार्य पिङ्गलके मतानुसार किसीको **'वरेण्यम्'**के स्थानमें **'वरेणियम्'** ऐसा परिवर्तितरूप अपेक्षित या अभीष्ट न हो, उस अवस्थामें एक अक्षरकी न्यूनताके कारण आचार्यके ही नियमसे इसे **'निचृद् गायत्री'** नामक विशिष्ट छन्दमें निबद्ध माना जा सकता है । आचार्य पिङ्गलके मतानुसार चौबीस अक्षरकी गायत्रीमें तेईस अक्षर होनेसे **'निचृत्'** और पचीस अक्षर होनेसे **'भूरिक्'**संज्ञा होती है[4] ।

गायत्री-जैसे शुद्ध, सात्त्विक और अनादिकालसे आस्तिक-परम्परामें प्रतिष्ठित होकर सर्वोच्च आसनासीन मन्त्रको वर्णसंकरताके दोषसे दूषित घोषित कर देना औचित्यपूर्ण कैसे कहा जा सकता है ? यह दूषण तब विहित माना जा सकता था, जब इस मन्त्रमें विभिन्न दो जातियोंके छन्दोंका संकरण होता, जैसे—गायत्री और बृहती आदि एकाधिक छन्दोंका मिश्रण । निचृत् और भूरिक्—ये दोनों छन्द

१. गायत्र्याश्च परं नास्ति दिवि चेह च पावनम् ।
हस्ता च वरदा देवी सर्वकामफलप्रदा ॥
(श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण १ । १६५ । ३३)

२. प्राजापत्याष्टौ—(पिङ्गलछन्दःसूत्र २ । ५)

३. इयादिपूरणः—(वही, ३ । २)

४. ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भूरिजौ (वही, ३ । ५९)

गायत्रीकी ही शाखाएँ अथवा अङ्ग हैं। जैसे शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष—ये वेदके षडङ्ग हैं, उसी प्रकार 'निचृत्' भी गायत्री छन्दका ही एक अङ्ग-विशेष है।

प्राचीन भारतीय इतिहास साक्ष्य देता है कि सृष्टिके अनादिकालसे इस परमपावन गायत्री महामन्त्रके जपरूप अनुष्ठानसे हम क्या, हमारे पूर्वजोंके भी महापूर्वज द्विज, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी, संन्यासी, ऋषि, महर्षि, महामुनि आदि साधक भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नतिकी उपलब्धि करते आ रहे हैं—प्रेयस् और निःश्रेयस् दोनों सम्पदाओंको प्राप्तकर अपनेको कृतकृत्य करते आ रहे हैं। सनातनधर्मावलम्बी हिंदूके अतिरिक्त आर्यसमाजी, ब्राह्मसमाजी, सिक्ख, पारसी आदि जातियोंकी गायत्री-मन्त्रके प्रति उदात्त भावना रही है। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण आदि समस्त प्राचीन भारतीय साहित्यमें गायत्रीकी विशदरूपताका दर्शन मिलता है।

वैदिक परिभाषाके अनुसार 'गय' शब्दका अर्थ होता है—प्राण और तब 'गया' अर्थात् प्राणोंका त्राण गायत्रीने किया था, इस कारण यह मन्त्र 'गायत्री' नामसे अभिहित है[5]। उपनिषद्-वाङ्मयको यही मन्तव्य स्वीकृत है[6]। महर्षि यास्कके मतानुसार स्तवनक्रियारूप कर्मवाले 'गै' धातुसे ही 'गायत्री' शब्द व्युत्पन्न हुआ है[7]। यह गानकर्ता—जपकर्ताका त्राण-रक्षण करनेके कारण 'गायत्री' नामसे समाख्यात है। उपनिषदोंके अनुसार इस संसारमें स्थावर-जङ्गमात्मक जितने पदार्थ हैं, वे समस्त गायत्रीके अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं—गायत्रीमय हैं। 'वाक्' ही गायत्री है, 'वाक्' ही सब कुछ है, 'वाक्' ही गान करता तथा समस्त जीवोंका त्राण करता है[8]। स्मृति कहती है कि लगातार तीन वर्ष-पर्यन्त सावधान होकर गायत्रीका जप करते[9] रहनेसे जपकर्ताको परब्रह्मकी उपलब्धि हो जाती है तथा वह अनन्त आकाशस्वरूप निराकारतामें परिणत हो जाता है—स्वेच्छानुसार सर्वत्र गमन कर सकता है[10]।'

आदिकवि वाल्मीकिने अपने महाकाव्यरूप रामायणके चौबीस सहस्र श्लोकोंकी रचना गायत्रीके चौबीस अक्षरोंके आधारपर की है तथा पाराशर्य वेदव्यासने अपने पुराण-मुकुटमणि श्रीमद्भागवत महापुराणमें भगवती गायत्रीका परिवर्णन किया है। 'स्कन्दपुराण'के अनुसार गायत्री वेदों और ब्राह्मणोंकी जननीके रूपमें चर्चित हुई हैं; क्योंकि वह अनुष्ठाता द्विजका त्राण करनेवाली है।[11] अन्य पुराणोंके अनुसार 'गायत्री वेदोंकी जननीके रूपमें आदृत है। गायत्री समस्त लोकोंकी पावनकर्त्री है। गायत्रीसे बढ़कर जपनेयोग्य दूसरा मन्त्र नहीं है—ऐसा जाननेवाला जन्म-मरणरूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है[12]।' 'समग्र मन्त्रोंमें प्रणव (ॐ) से युक्त गायत्री दुर्लभ है। तीनों वेदोंमें गायत्रीसे श्रेष्ठ और कोई भी मन्त्र नहीं है[13]।' वेदोंमें द्विजके लिये गायत्रीकी उपासनाको नित्य कर्तव्य बतलाते हुए कहा गया है कि 'केवल गायत्रीकी उपासनासे ही वह मोक्षकी उपलब्धि कर सकता है। उसे अन्य कोई भी उपासना करनेकी आवश्यकता नहीं है'—ऐसी पौराणिक घोषणा है[14]।

गायत्रीके मन्त्रजप-कालमें प्रणव—ॐ (अ उ म्) और तीन व्याहृतियाँ (भूः भुवः स्वः) का प्रत्येक बार मन्त्रके आदिमें उच्चारण कर लेनेकी सनातन परम्परा है।

---

५. सा हैषा गयांस्तत्रे। प्राणा वै गयास्तत् प्राणांस्तत्रे तद् गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम। (शतपथब्राह्मण १४ । ८)

६. बृहदारण्यक० (५ । १४ । ४)

७. गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः। (निरुक्त ७ । ५ । १२)

८. गायन्तं त्रायते यस्माद् गायत्रीति स्मृता बुधैः। (भारद्वाजस्मृति ६ । १४६)

९. गायत्री वा इदꣳ सर्वभूतं यदिदं किं च वाग्वै गायत्री, वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति वा त्रायते (छान्दोग्य० ३ । १२ । १)

१०. योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥
(मनु० २ । ८२)

११. गायत्री वेदजननी गायत्री ब्राह्मणप्रसूः।
गातारं त्रायते यस्माद् गायत्री तेन गीयते॥
(स्कन्द०, काशीखण्ड ९ । ५३)

१२. गायत्री वेदजननी गायत्री लोकपावनी।
गायत्र्या न परं जाप्यमेतद्विज्ञाय मुच्यते॥
(पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड ५३ । ५८)

१३. दुर्लभा सर्वमन्त्रेषु गायत्री प्रणवान्विता।
गायत्र्या नाधिकं किंचित् त्रयीषु परिगीयते॥
(स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ९ । ५१)

१४. गायत्र्युपासना नित्या सर्ववेदैः समीरिता।
यया विना त्वधःपातो ब्राह्मणस्यास्ति सर्वथा॥
तावता कृतकृत्यत्वं नान्यापेक्षा द्विजस्य हि।
गायत्री मात्रनिष्णातो द्विजो मोक्षमवाप्नुयात्॥
(श्रीमद्देवीभागवत १२ । ८ । ८९-९०)

प्रणव परमात्माका आदिम नामधेय है[15]। भूः, भुवः, स्वः-का क्रमिक अर्थ है—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग। अतः प्रणव और व्याहृतित्रयविशिष्ट गायत्रीका मन्त्रार्थ होता है—'हम स्थावर-जङ्गमरूप त्रिलोकीके उत्पादक उन निरतिशय प्रकाशमय परमेश्वर-देवके भजनेयोग्य तेजःपुञ्जका ध्यान करते हैं, जो भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोकरूप सच्चिदानन्दमय परब्रह्म हैं।' उपर्युक्त तीनों व्याहृतियाँ त्रिलोकीकी प्रतीकरूपा होनेके अतिरिक्त सच्चिदानन्द (सत्, चित्, आनन्द) की भी प्रतीकस्वरूपा हैं[16]।

उपर्युक्त गवेषणात्मक विवेचनसे यह निस्संदेह सिद्ध हो जाता है कि वेद, वेदाङ्ग, ब्राह्मण, उपनिषद्, धर्मशास्त्र तथा पुराण आदि समस्त प्राचीन भारतीय वाङ्मयमें गायत्री महामन्त्रकी सनातनता तथा उपादेयताकी मान्यता अभिव्यक्त हुई है और तब इसकी अमान्यता तथा अनुपादेयताके लिये कोई भी अवकाश शेष नहीं रह जाता।

उपरिचर्चित प्राचीन आर्यवाङ्मयोंके समान ही मध्यकालिक तथा आधुनिक कुछ एकाधिक शताब्दियोंके कतिपय विचारक, सत्यान्वेषी एवं अनुभवी महापुरुषोंने भी इस गायत्री महामन्त्रकी सनातनता, सत्यता तथा आशुफलप्रदत्ताका प्रतिपादन किया है। इन महात्माओंमें कतिपय प्रमुख लोग ये हैं—जगद्गुरु आद्यशङ्कराचार्य, लोकमान्य बालगङ्गाधर-तिलक, कालीकमलीवाले बाबा, स्वामी विशुद्धानन्दजी, श्रीश्रीतैलङ्गस्वामी, श्रीस्वामी रामकृष्ण परमहंसदेव, स्वामी दयानन्दजी सरस्वती, स्वामी सर्वदानन्द, स्वामी रामतीर्थ, विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर, महामना पं० मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी, महर्षि रमण, योगी अरविन्द, प्रसिद्ध वैदिक साधक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, सर डॉ० राधाकृष्णन् तथा स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज आदि-आदि।

परमयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने विश्वके तत्त्वोंमें अपनेको श्रेष्ठ घोषित करते हुए छन्दों अर्थात् चतुर्वेदोंमें अपनेको 'गायत्री' ही निर्दिष्ट किया है[17]। 'छन्दस्' शब्द यहाँपर वेद-समुदायके वाचकके रूपमें प्रयुक्त हुआ है, अतः श्रीकृष्णके कथनका अभिप्रेत वह विशिष्ट ब्रह्मगायत्रीरूप मन्त्रराज ही रहा, जिसके देवता 'सविता' और 'ऋषि विश्वामित्र' हैं। यह ब्रह्मगायत्री, जिसका प्रथम पाद सप्ताक्षर है और शेष दो पाद अष्टाक्षर हैं, अपने ही निचृद् गायत्री नामक छन्दमें गुम्फित है। ऐसे तो ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके सूक्त एकसे नौ तक नब्बे ऋचाएँ गायत्री छन्दमें ही निबद्ध हैं, पर इन नब्बे ऋचाओंमें भिन्न-भिन्न देवता हैं और ऋषि भी भिन्न-भिन्न ही हैं। इनमें किसीके न तो सविता देवता हैं और न विश्वामित्र ऋषि ही। अतः यह ऋचा उपर्युक्त श्रीकृष्णकी घोषणामें विश्वामित्र ऋषि तथा सविता (सूर्य) देवकी स्तुति है। यहाँ इस मन्त्रको छोड़कर अन्य ऋचाएँ कथमपि अभिप्रेत नहीं हैं।

खेदका विषय है कि आज प्रायः सम्पूर्ण विश्व भौतिकताकी ओर अग्रसर होता जा रहा है। यह युग बुद्धिवाद और तर्कवादका है, परंतु बुद्धिकी पहुँच पाञ्चभौतिक प्रकृतिसे आगे नहीं और तर्ककी कोई सीमा नहीं। आजकी भारतीय जनता, विशेषतया हिंदूधर्मावलम्बिनी जनता पाश्चात्त्य-विचारधारामें अंधाधुंध बहती जा रही है। वह किसी भी सिद्धान्त या वादको वैज्ञानिक कसौटीपर कसे बिना उसे सत्य माननेको तैयार नहीं। इस युगमें प्रत्यक्षके अतिरिक्त अनुमान अथवा शब्द-प्रमाणको कदाचित् ही कहीं मान्यता मिलती हो, और आत्मतत्त्वोपलब्धिके लिये अनुमान तथा शब्द आदि प्रमाण ही वस्तुतः सहायक सिद्ध होते दीखते हैं। अन्तः-करणके अतिरिक्त बाह्य प्रत्यक्ष अथवा बाह्य करण, साधकको सत्यकी उपलब्धि करानेमें सहायक हो ही नहीं सकते। उस तत्त्वकी अनुभूतिके लिये परम्परागत आप्त वचनोंपर श्रद्धासहित विश्वास करना ही होगा। विश्वासके अभावमें परमतत्त्वकी अनुभूति कदापि सम्भव नहीं है। अतः उनपर विश्वासकर तदनुसार आचरणकर अपने जीवनको सफल बनाना चाहिये।

---

१५. तस्य वाचकः प्रणवः। (पातञ्जलयोगसूत्र)

१६. भवतीति भूः=पृथ्वीरूपा सत्स्वरूपा वा। भावयतीति भुवः=अन्तरिक्षस्वरूपं चिद्रूपं वा। स्वर्यते स्तूयते इति स्वः=स्वर्गलोक-प्रतीकं परमानन्दतद्रूपं वा।

१७. गायत्री छन्दसामहम्। (गीता १०। ३५)

प्रार्थना

तुम मुस्कुराते ही रहे—सब कुछ सुनकर मुस्कुराते ही रहे

मेरे प्राणसखे !

मैं कह रहा हूँ, तुम सुन रहे हो ! मैं मुखर हो गया हूँ, तुम मौन बने हो । मैं कहता ही जा रहा हूँ और तुम चुपचाप मुस्कुराते हुए सुनते जा रहे हो । करुण, रौद्र, हास्य आदि अनेक रसोंकी छाया मेरे मुखपर आयी, पर तुम तो केवल शान्तरसमें ही स्थित रहकर मुस्कुराते रहे; तुम्हारे भावमें कोई अन्तर नहीं आया । तुम मुस्कुराते रहे--सब कुछ सुनकर मुस्कुराते ही रहे !

सांसारिक कामनाओंने मुझे दीन बना दिया; भिक्षुककी भाँति गिड़गिड़ाकर मैंने अपना वस्त्राञ्चल तुम्हारे सम्मुख फैलाया, निराशासे मेरी आँखोंमें आँसू छलक आये, कामनापूर्तिकी लालसासे मैंने तुम्हारी प्रशस्ति गायी, तुम्हारी उदारताके बखान किये, अपनी अकिंचनताका रोना रोया, परंतु तुम अपरिवर्तित ही रहे—वही निर्विकार मुस्कुराहट तुम्हारे मुखपर विद्यमान रही । तुम्हारा दिया सब कुछ प्राप्त होनेपर भी भ्रान्तिवश मैं माँग रहा था और तुम मानो इसे मेरा अभिनय-कौशल मानकर प्रशंसाके भावसे मुस्कुरा रहे थे ।

अपने मनोऽनुकूल विषयोंकी प्राप्ति न होनेसे कभी मैं तुमसे निराश-सा हो गया, कुछ कालतक तुम्हारी ओर रुख भी नहीं किया, यदा-कदा तुम्हारी आलोचना भी कर बैठा, तुम्हारी न्यायशीलता एवं सौहार्दपर मुझे विश्वास न रहा, तुम्हारे अस्तित्वपर भी संदेह कर बैठा, पर तुमने प्रतिवाद नहीं किया; न अपनी क्रियाके औचित्यके प्रतिपादनकी चेष्टा की, न अपने अस्तित्वको प्रमाणित करनेका यत्न किया । उसी तरह शान्त-स्थिर रहकर तुम मेरी प्रतिक्रियाओंको सहते रहे--मौन, निर्विकार बने मुस्कुराते रहे ।

कुछ चाँदी-सोनेके टुकड़ों तथा चमकीले पत्थरोंको जुटाकर कभी मैं अपनेको धनी मान बैठा । मेरे विवेकपर नशा-सा छा गया और मैं सोचने लगा कि मेरा यह संचय ही सर्वोपरि उपलब्धि है । यही सर्वोपरि शक्ति है, इसीसे जगत्का संचालन होता है । इसीके संरक्षण-संवर्द्धनकी चिन्ता ही मेरा जीवन हो गया । मुझे इस प्रकार जड वस्तुओंको जगत्की संचालिका एवं नियामक सत्ता मानते-कहते देखकर तुम मुस्कुराते रहे, मेरी इस अबोध समझपर मुस्कुराते रहे ।

कभी मैं अपनी देहको ही अपनी आत्मा, अपना प्रियतम मान बैठा और उसीको अजर, अमर बनानेकी झूठी कल्पनामें तल्लीन हो गया । अपनी देहको आकर्षक, सबल एवं नीरोग बनानेको मैंने अशेष यत्न किये । उसे सुख-आराम देनेको मैंने अगणित साधन जुटाये । ऊँचे महल बनाये तथा उनमें प्रचुर भोग-सामग्री संचित की । देहके कल्पित नाम एवं यशको अक्षुण्ण एवं चिरस्मरणीय रखनेको मैंने बहुत उपाय किये; किंतु मेरी देह अजर-अमर नहीं हो सकी, बारंबार सजाते-सँवारते रहनेपर भी यह कुरूप ही रही, अनेकों सुगन्धित पदार्थोंके प्रयोग करते रहनेपर भी यह दुर्गन्धित ही रही, विविध पौष्टिक पदार्थोंके सतत आहारसे भी इसका क्षीण होना नहीं रुक सका, हजारों ओषधियोंका सेवन करते रहनेपर भी इसका रुग्ण होकर नष्ट होना नहीं रोका जा सका । अनित्य तथा सुखसे विरहित इस देहको नित्य सुखका आधार बना देनेकी मेरी वह आकाङ्क्षा कितनी निःसार थी, परंतु मैं बारंबार इसीकी

आशा तुमसे लगाकर तुमसे कितनी विनती करता रहा। तुम मेरा सब कुछ सुनते रहे और मुस्कुराते रहे, केवल मुस्कुराते रहे।

तुम तो सदैव मेरे सखा, सहायक एवं हितकारी मीत रहे ही, पर मैंने तुम्हें भुलाकर, तुम्हारे स्थानपर मेरे अन्य देह-सम्बन्धियोंको अपना प्रेष्ठ बनाना चाहा। कभी पत्नी अथवा पतिसे जन्म-जन्मतक साथ निभानेके वचन लिये, कभी पुत्रसे जीवनका सहारा बननेकी आशा की, कभी मित्रोंसे संकटकालमें सहायक रहनेकी अभिलाषा की, कभी कुटुम्बियों, जाति, देश अथवा सम्प्रदायके जन-संगठनोंसे सामूहिक सुरक्षा, सद्भाव एवं सौहार्द-प्राप्तिकी बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनायीं। अपने बल, बुद्धि तथा बहुसंख्यकताके आधारपर मैं अपनेसे अल्पबल, अल्पबुद्धि एवं अल्पसंख्यक लोगोंपर शासन करने लगा। मैंने भूमिपर अधिकार किया, सेनाएँ एकत्र कीं, शासन-व्यवस्थाएँ निर्माण कीं तथा आचार-पद्धतियाँ रचीं, पर मुझे कभी शाश्वत सुरक्षा, निश्छल सौहार्द तथा प्यारभरे सद्भावके दर्शन नहीं हुए। इस जगत्‌के सम्बन्धोंमें जहाँ प्रेमका लेश है ही नहीं, वहाँ मैं प्यार चाहता था, मैं तुम्हें भुलाकर तुमसे भिन्न लोगोंसे स्नेह, सौहार्द एवं सद्भावनाकी आकाङ्क्षा करता था। तुमसे भी मैं यही प्रार्थना करता रहा कि तुम मेरी इस झूठी कल्पनाको सत्य कर दो। मेरी इस अनहोनी-सी चाहपर, मेरे इस अज्ञान एवं भोलेपनपर तुम मुस्कुराते रहे, सब कुछ सुनकर मुस्कुराते ही रहे।

तुमने मुझे समझानेका यत्न नहीं किया, क्योंकि तुम जानते थे कि मैं समझनेको प्रस्तुत नहीं था। जड धन-सम्पत्ति, अनित्य एवं सुखविरहित देह तथा निरानन्द संसार-सम्बन्धोंसे बार-बारके व्यवहारने ही मुझे सदैव अशान्त बनाये रखा; सुखकी झलक मुझे कभी नहीं मिली; प्रीतिकी मधुरता मुझे सदैव अप्राप्त रही। मेरी असफल चेष्टाओंने ही मेरे सम्मुख बार-बार स्पष्ट कर दिया कि धन-सम्पत्तिके संचयमें देह अथवा देह-सम्बन्धियोंके चिन्तनमें सुख नहीं है, आनन्द नहीं है; एक नशा है, पीड़ा है, थकान है, भटकन है, व्यामोह है। वह दूरसे भ्रान्तिवश सुख, प्रीति तथा अमरताकी तरह प्रतीत होता है, परंतु वस्तुतः उसमें शान्ति, तृप्ति, आनन्द अथवा स्थिरताका लेश भी नहीं है।

अब मैं तुम्हारी चिर-मुस्कुराहटका भेद समझ रहा हूँ कि तुम क्यों मुस्कुराते रहे, मेरा सब कुछ सुनकर भी क्यों मुस्कुराते ही रहे !

—तुम्हारा अपना ही एक

मेरे प्राणोंमें आ, प्रियतम !

[विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ टैगोरके 'तुमि नब नब रूपे ऐशो प्राणे' गीतका श्रीसत्यकामजी विद्यालंकारद्वारा किया हुआ भावानुवाद]

तू नित्य नये-नये रूपोंसे मेरे प्राणोंमें आ, प्रियतम !
गंधमें आ, वर्णमें आ, शरीरमें रोमांचित स्पर्श बनकर आ,
चित्तमें अखंड हर्षकी सुधा बनकर आ,
मेरे मुग्ध मुँदे नयनोंमें आ, प्रियतम ! मेरे प्राणोंमें नित्य नये-नये रूपोंमें आ !
हे निर्मल, हे उज्ज्वल, हे मनोहर, आ !
हे सुन्दर, हे स्निग्ध, हे प्रशांत, आ !
मेरे सुख-दुःखमें आ, नित्य-नैमित्तिक कामोंमें आ, सब कामोंका चरम लक्ष्य बनकर आ !
नित्य नये-नये रूपोंसे मेरे प्राणोंमें आ !

राजा पुरुयशाको सायुज्यकी प्राप्ति

(लेखक—श्रीशिवनाथजी दुबे)

बात है अत्यन्त प्राचीनकालकी । पाञ्चाल देशके परम पुण्यात्मा, यशस्वी एवं बुद्धिमान् नरेश भूरियशाका देहावसान हो जानेपर उनके एकमात्र योग्यतम पुत्र पुरुयशा राजसिंहासनपर आसीन हुए । पुरुयशा राज्य-कार्यमें दक्ष, शास्त्रोंके मर्मज्ञ एवं अस्त्र-संचालनमें प्रवीण, धनुर्वेदमें निपुण और शूरता-वीरतामें प्रख्यात होनेके साथ ही अतिशय उदार एवं धर्मात्मा भी थे । उन्होंने धर्मपूर्वक प्रजाका पालन किया । उनके राज्यमें प्रजा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करती हुई निश्चिन्ततासे स्वधर्म-पालनमें तत्पर रहती थी । किंतु सहसा अवर्षण हुआ । वर्षाकी एक बूँद भी नहीं गिरी; धरती सूख गयी । तृण-लतादि जल गये । अनेक प्रकारकी व्याधियाँ फैल गयीं । राजा पुरुयशाने पूर्ण प्रयत्न किया । प्रजाकी जीवन-रक्षाके लिये उन्होंने राज्य-कोष खोल दिया, किंतु वे मनुष्यों एवं पशुओंकी रक्षा नहीं कर सके । हाथी, घोड़े, गाय, बैल आदि पशु चारा-पानीके अभावमें अनेक रोगोंसे आक्रान्त होकर मृत्यु-मुखमें चले गये । नरेशका कोष रिक्त हो गया । पाञ्चालनरेशकी शक्ति अत्यन्त क्षीण हो चली । सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी ।

निरन्तर अवसरकी प्रतीक्षा करनेवाले शत्रु-राजाओंने पाञ्चालपर आक्रमण कर दिया । पुरुयशा पराजित हुए और पाञ्चालपर शत्रुओंका आधिपत्य हो गया । राजा पुरुयशाने अपनी धर्मपत्नी शिखिणी तथा विश्वस्त दास-दासियों एवं शूर-वीरोंके साथ प्राण-रक्षार्थ गिरि-कन्दराओंमें आश्रय ग्रहण किया ।

पुरुयशा अत्यधिक चिन्तित तथा दुःखी थे । वे मन-ही-मन सोच रहे थे—'क्रूर नियतिने क्या कर दिया ! मैं जन्म और कर्मसे शूद्र होकर भी माता-पिताके हितका सदा ध्यान रखता हूँ । गुरुभक्त, उदार, ब्राह्मणोंका सेवक, धर्मपरायण, समस्त जीवोंके प्रति दयाभाव रखनेवाला, देवपूजक और जितेन्द्रिय भी हूँ । फिर मेरे किस कर्मका यह दुष्परिणाम मेरे सम्मुख उपस्थित हुआ है । अपने किस पापके फलस्वरूप मैं शत्रुसे पराजित होकर अरण्यवास कर रहा हूँ ?'

दुःखसे व्याकुल राजा पुरुयशाने अपने गुरु—मुनिवर याज और उपयाजका स्मरण किया । मुनिश्रेष्ठ याज और उपयाज सर्वज्ञ थे । राजाके आवाहन करते ही दोनों मुनीश्वर उनके सम्मुख उपस्थित हो गये ।

राजा पुरुयशा उन्हें देखते ही अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग लेट गये । तदनन्तर पुष्पादि वनकी सामग्रियोंसे उनकी पूजा की । फिर मुनियोंके चरणोंके समीप करबद्ध बैठे नरेशने अत्यन्त विनम्र शब्दोंमें कहा—'विप्रवरो ! ब्राह्मणोंके चरणोंमें मेरी सहज श्रद्धा है । मैं अपने किस पापके कारण शत्रुओंसे पराजित होकर वनवास कर रहा हूँ । मेरी सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन ली गयी । मेरे कोई पुत्र, भाई तथा हितैषी-मित्र भी नहीं है । आप कृपापूर्वक बतलानेका कष्ट करें कि धर्मपूर्वक शासन करते रहनेपर भी मेरे राज्यमें भीषण अकाल कैसे पड़ा ?'

'राजन् ! तुम पूर्वजन्ममें महापापी व्याध थे ।'—कुछ देर ध्यानस्थ रहनेके अनन्तर दोनों मुनियोंने उत्तर दिया; 'तुम अत्यधिक क्रूर और हिंसापरायण थे । तुम धर्माचरणके विरुद्ध जीवन व्यतीत करनेवाले थे और तुमने भूलकर भी न तो कभी करुणामय गोविन्दके चारु चरणारविन्दोंका चिन्तन किया और न कभी उन्हें प्रणाम करनेके लिये मस्तक ही झुकाया । तुम शस्त्रजीवी, हिंसापरायण और निर्दय थे । तुमने मनुष्य, पशु-पक्षी—सबको यातना-ही-यातना दी । छोटे-बड़े बच्चोंवाले मृगों एवं पक्षियोंके वधके कारण तुम्हें किसी पुत्रकी प्राप्ति नहीं हुई है । सबके साथ विश्वासघात करनेके कारण तुम सहोदर भाईसे वञ्चित हो । मार्गमें सबको पीड़ित करते रहनेके कारण तुम मित्र-रहित हो । साधुपुरुषोंके तिरस्कारके कारण तुम पराजित हुए । कभी दान न देनेके कारण तुम्हें दरिद्रता तथा दूसरोंको सदा उद्विग्न करते रहनेके कारण अरण्यवास प्राप्त हुआ है । तुम्हारे क्रूर कर्मोंके कारण ही इस जन्ममें प्राप्त तुम्हारा राज्य भी छिन गया है ।'

कुछ देर रुककर ऋषियोंने आगे कहा—'एक बारकी बात है, वैशाख मासमें सूर्यकी किरणोंसे धरती तप रही थी । तुमने तृषाधिक्यसे व्याकुल एक ऋषिको दूरसे सरोवर बता दिया था और हवाके लिये पलाशका एक सूखा पत्ता भी दे दिया था । बस, उस एक पुण्यके फलस्वरूप तुमने राजवंशमें जन्म ग्रहण किया है ।'

पुरुयशाने अत्यन्त विनयपूर्वक कहा—'मुनीश्वरो! अपने पूर्व-जन्मका वृत्तान्त सुनकर मैं अधीर हो गया हूँ। मुझे तो मेरे कर्मके अनुसार इससे भी अधिक कठोर दण्ड मिलना चाहिये, किंतु दयानिधि प्रभुने तो मुझे राज्य-वैभव देकर उससे सकुशल पृथक् भर किया है। उन अनाथ-नाथ प्रभुकी दयाका पार नहीं है। क्या अब नवीन कर्मसे मेरी परिस्थितिमें सुधार हो सकता है?'

'अवश्य हो सकता है।' ऋषियोंने तुरंत कहा 'जबतक दुर्लभ मनुष्य-जीवन सुलभ है, तबतक शुभाशुभ कर्मोका अधिकार है। इसी जीवनमें प्रायश्चित्त, शुभकर्म एवं भगवान्के चरणोंका आश्रय लेकर मनुष्य पूर्वकृत संचित कर्मराशिका ध्वंस तो कर ही सकता है, सदा-सर्वदाके लिये मुक्त भी हो सकता है।'

कर्मोंकी अत्यन्त सूक्ष्म व्याख्या करते हुए ऋषियोंने राजा पुरुयशाको उपदेश दिया—'शुभ कर्मोंके लिये सदा सर्वत्र अवसर है। मनुष्य जहाँ जिस स्थितिमें है, वहीं उसी स्थितिमें दूसरेके दुःख-निवारण आदिके कार्य कर सकता है।

'इस समय वैशाख मास चल रहा है। भयानक गर्मी पड़ रही है। तुम पथिकों एवं पशु-पक्षियोंकी जलसे तृप्ति कर सकते हो। इसके लिये प्याऊ लगवाना चाहिये। श्रीलक्ष्मीपतिके चरणोंका आश्रय लेकर उनका स्मरण, चिन्तन, पूजन एवं उनकी लीला-कथा श्रवण करते हुए तुम अपना परम मङ्गल कर सकते हो।

'आज परम शुभ तिथि अक्षयतृतीया है। इस तृतीयाके दिन किये हुए धर्म-कर्म अक्षय हो जाते हैं। यदि तुम आज ही करुणामय प्रभुके चरणोंका अनन्य आश्रय ग्रहणकर शुभ कर्ममें प्रवृत्त हो जाओ तो मङ्गल सुनिश्चित है। तुम्हारा जीवन और जन्म सफल हो जायगा।'

राजा पुरुयशाने ऋषियोंके चरणोंमें अत्यन्त श्रद्धा और भक्तिपूर्वक साष्टाङ्ग प्रणाम किया। याज और उपयाज दोनों ऋषि नरेशकी अनुमतिसे प्रस्थित हुए।

उन महान् ऋषियोंके जाते ही भाग्यवान् नरपाल पुरुयशा परदुःख-निवारणके साथ भगवान् मधुसूदनकी आराधनामें जुट गये। उनका समय निरन्तर धर्म-कर्ममें एवं परम-प्रभुकी उपासनामें व्यतीत होने लगा। फिर तो कुछ ही वर्षोंमें उनके प्रभावकी अभिवृद्धि हो गयी। उनके विश्वस्त वीर सैनिक आदि भी उनके समीप आ गये। राजाने अवशिष्ट सैनिकोंके साथ शत्रु-नरेशोंपर आक्रमण कर दिया। शत्रु पराजित हुए और प्राण लेकर भागे। विजयी पुरुयशाने नरेशोंके कोष तथा बड़ी संख्यामें घोड़े, हाथी, रथ, ऊँट और खच्चर प्राप्त किये। पुरुयशा पुनः पाञ्चालदेशके सिंहासनपर आसीन हो गये। विरोधी नरेश उन्हें कर देनेके लिये बाध्य हुए।

पाञ्चालनरेश पुरुयशा अब और अधिक श्रद्धा, भक्ति एवं उत्साहपूर्वक धार्मिक कर्मोंके साथ श्रीभगवान्की आराधना करने लगे। उनका यश उत्तरोत्तर बढ़ता गया और उन्हें धृष्टकीर्ति, धृष्टकेतु, धृष्टद्युम्न, विजय और चित्रकेतु नामक पाँच सुयोग्य पुत्र भी हुए।

राजा पुरुयशाकी अनन्य भक्तिसे प्रसन्न होकर गरुडवाहन, नवनीरदवपु देवाधिदेव भगवान् विष्णुने शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। उनके साथ उनकी प्राणप्रिया श्रीलक्ष्मीदेवी भी थीं।

सर्वेश्वर प्रभुको प्रत्यक्ष देखकर पुरुयशाकी प्रसन्नताकी सीमा नहीं थी। उन्होंने प्रभुके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। फिर वे उनकी अनुपम रूपमाधुरीको अपलक नेत्रोंसे देखने लगे। कुछ देर बाद राजाने भक्त-प्राणधन परम प्रभुके त्रयतापनिवारक एवं भुक्ति-मुक्तिप्रदायक पावनतम चरण-कमलोंको धोकर उस दुर्लभ जलका पान किया, उसे माथे चढ़ाया एवं अपना सम्पूर्ण कुल पवित्र कर लिया।

राजाने अत्यन्त भक्तिपूर्वक अपने वैभवके अनुसार बहुमूल्य वस्त्राभूषण, चन्दन, हार, धूप, दीप तथा अमृतोपम नैवेद्यके द्वारा उन जगत्त्राता प्रभुकी पूजा की। उन्होंने प्रभुके चरणोंमें अपने समस्त भौतिक पदार्थोंके साथ तन, मन और प्राण भी समर्पित कर दिये। फिर हाथ जोड़े गद्गद कण्ठसे स्तवन करते हुए नरेशने करुणामय प्रभुसे प्रार्थना की—'भगवन्! मेरा मन सदा आपके चरणारविन्दोंके चिन्तनमें लगा रहे, मेरी वाणी आपकी दिव्य कथाके निरन्तर वर्णनमें तत्पर हो, मेरे ये दोनों नेत्र आपके श्रीविग्रहके दर्शनमें, कान कथा-श्रवणमें तथा रसना आपके भोग लगाये हुए प्रसादके आस्वादनमें प्रवृत्त हो। प्रभो! मेरी नासिका आपके चरणकमलोंकी तथा आपके भक्तजनोंके गन्ध-विलेपन आदिकी सुगन्ध लेनेमें, दोनों हाथ आपके मन्दिरमें झाड़ू देने आदिकी

सेवामें, दोनों पैर आपके तीर्थ और कथास्थानकी यात्रा करनेमें तथा मस्तक निरन्तर आपको प्रणाम करनेमें संलग्न रहें। मेरी कामना आपकी उत्तम कथामें हो और बुद्धि अहर्निश आपका चिन्तन करनेमें तत्पर रहे। मेरे घर पधारे हुए मुनियोंद्वारा आपकी उत्तम कथाका वर्णन तथा आपकी महिमाका गान होता रहे और उसीमें मेरे दिन बीतें। विष्णो! एक क्षण तथा आधे पलके लिये भी ऐसा प्रसङ्ग न उपस्थित हो, जो आपकी चर्चासे रहित हो। हरे! मैं परमेष्ठी ब्रह्माका पद, भूतलका चक्रवर्ती राज्य और मोक्ष भी नहीं चाहता, केवल आपके चरणोंकी निरन्तर सेवा चाहता हूँ, जिसके लिये लक्ष्मीजी तथा ब्रह्मा, शंकर आदि देवता भी सदा प्रार्थना किया करते हैं।'*

राजाके भक्तिपूर्ण स्तवनसे परम प्रसन्न प्रभुने कहा—'राजन्! तुम सर्वथा निष्काम, निष्पाप एवं मेरे श्रेष्ठ भक्त हो। नरेश! मुझमें तुम्हारी सुदृढ़ भक्ति हो और तुम मेरा सायुज्य प्राप्त करो।'

प्रसन्न क्षीरोदधिशायी प्रभु नरेशको वर-प्रदानकर वहीं अन्तर्धान हो गये।

राजा पुरुयशाका मन सदा दयामय प्रभुमें ही लगा रहा। श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंका स्मरण करते हुए ही उन्होंने जीवन-पर्यन्त प्रजाका पालन किया। अन्तमें उन्होंने परम दुर्लभ परम प्रभुका सायुज्य प्राप्त कर लिया।

यजन—एक प्रतीकात्मक विवेचन

(लेखक—आचार्य पं० श्रीमुंशीरामजी शर्मा)

शारीरिक यजन

प्राचीनकालमें यज्ञ करनेके लिये ऐसी समतल भूमि खोजी जाती थी, जहाँ कृष्णमृग विचरण करते हों और जहाँका वायुमण्डल पवित्र हो। पशुओंमें कृष्णमृग अपने सरल, शुद्ध और पावन जीवनके लिये प्रख्यात है। जिस भूमिमें वह स्वच्छन्द, निर्बाध विचरण करता हो, वहाँ हिंसाका स्वभावतः अभाव होगा। यज्ञका एक नाम 'अध्वर' है, जिसका अर्थ है—हिंसासे विरहित। अतः यजनके लिये ऐसी ही भूमि उपयुक्त मानी जाती थी। समतल भूमिपर सर्वप्रथम वेदी बनायी जाती थी। यह वेदी गौके गोबरसे लीपी जाती थी और आटा, हल्दी, गोरोचन आदिके द्वारा शोभा बढ़ानेके लिये चित्रित भी की जाती थी। 'वेदी' या 'वेदिका' शब्द 'विद्'धातुसे निष्पन्न होता है। 'विद्'का अर्थ ज्ञान और उपलब्धि दोनों है। वेदी बनाना मानो यजन-कर्मके लिये उपयुक्त स्थान या आधार-भूमिको उपलब्ध करना है। यह वेदी ऐसी हो, जहाँ कीड़े-मकोड़े न जा सकें; अर्थात् जो निरुपद्रव हो। वेदीके निर्माणके उपरान्त याजकोंके बैठनेके लिये कुशासन रखे जाते थे। संस्कृत भाषामें 'कुश'के लिये 'दर्भ' और 'बर्हि' शब्द भी प्रचलित हैं। कुशमें पवित्रता है, इसलिये उसकी पवित्री (पैंती) भी बनायी जाती है। पवित्री अनामिका अङ्गुलिमें पहनी जाती है। यह प्रथा आज भी विद्यमान है। कुशपर बैठनेवाला व्यक्ति कई रोगोंसे बच जाता है, आयुर्वेदमें इसका उल्लेख है। आजका रोगविज्ञान भी यही सिद्ध कर रहा है। शरद-

* भूयान्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि ते दिव्यकथानुवर्णने।
नेत्रे ममेमे तव विग्रहेक्षणे श्रोत्रे कथायां रसना त्वदर्पिते॥
घ्राणं च त्वत्पादसरोजसौरभे त्वद्भक्तगन्धादिविलेपनेऽसकृत्।
स्यातां च हस्तौ तव मन्दिरे विभो सम्मार्जनादौ मम नित्यदेव॥
पादौ विभोः क्षेत्रकथानुसर्पणे मूर्धा च मे स्यात्तव वन्दनेऽनिशम्।
कामश्च मे स्यात्तव सत्कथायां बुद्धिश्च मे स्यात्तव चिन्तनेऽनिशम्॥
दिनानि मे स्युस्तव सत्कथोदयैरुद्गीयमानैर्मुनिभिर्गृहागतैः।
हीनः प्रसङ्गस्तव मे न भूयात् क्षणं निमेषार्धमथापि विष्णो॥
न पारमेष्ठ्यं न च सार्वभौमं न चापवर्गं स्पृहयामि विष्णो।
त्वत्पादसेवां च सदैव कामये प्रार्थ्यां श्रिया ब्रह्मभवादिभिः सुरैः॥
(स्क० पु० वैष्ण० वैशा० मा० १६। २४–२८)

ऋतुमें कुश-(काश) जब श्वेत सुमनोंसे लद जाते हैं, तब वनमें सात्त्विकताकी श्वेतिमा छा जाती है और वह सबको आकर्षित करती है। भाद्रपदकी अमावस्या कुशोत्पाटिनी मानी जाती है। तान्त्रिक विद्वान् 'ॐ हूं फट्' इस मन्त्रका उच्चारण करके कुशोत्पाटन करते हैं। सम्भव है, इस मन्त्रध्वनिमें मलनिवारण या विघ्न-परिहरणकी शक्ति भी हो।

वेदी और कुश दोनों बाह्य उपकरण हैं। तीसरा एक और बाह्य उपकरण है, जिसे 'यूप' कहते हैं। यह यूप लकड़ीका होता था, जिसमें ध्वजा बाँधी जाती थी। आज भी विवाह, उपनयन आदिमें यूप गाड़ा जाता है। यूपके साथ आम या ढाकके पत्ते भी बाँधे जाते हैं। यूपके साथ कलावा भी रहता है। सम्भवतः प्राचीन कालमें यूपध्वज यजनके अनुष्ठानको सूचित करनेवाला संकेत या चिह्न था, जो दर्शकोंको पवित्र जीवनकी ओर प्रेरित करता था। अपवित्र जीवन व्यतीत करनेवाले हिंसक असुर यूपोंको तोड़ते थे और यज्ञोंका विध्वंस करते थे। यह कार्य आर्योंको पीड़ा पहुँचानेवाला था। इसीलिये यज्ञोंकी रक्षा और असुरोंका विनाश करनेके लिये क्षात्रशक्तिकी आवश्यकता पड़ती थी। विश्वामित्रके यज्ञमें जब राक्षस उपद्रव करने लगे, तब श्रीराम और लक्ष्मणने असुरोंको प्रताड़ित करके यज्ञकी रक्षा की थी। यज्ञ असुर भी करते थे, परंतु उनके यज्ञ घृत एवं सुगन्धित पदार्थोंके स्थानपर मद्य-मांस आदिकी आहुतियोंसे पूर्ण रहते थे। पशु-बलि, नर-बलि आदि भी आसुर यज्ञोंके प्रमुख चिह्न थे। समाजमें जब इन असुरोंका सम्मिश्रण हुआ, तब कुछ प्रवृत्तिमार्गी द्विजोंने भी मांस-मदिराको अपनाया। यज्ञयूपकी महिमा तभीसे विकृत हुई और वह अध्वरका नहीं; 'ध्वर' या 'हिंसा'का प्रतीक बन गया। यज्ञयूपमें बलिपशु बाँधा जाने लगा और उसकी आहने आर्य-वंशको पराधीन करके आहोंसे भर दिया।

यज्ञका चतुर्थ बाह्य उपकरण अग्नि है। यह अग्नि दो अरणियोंके मन्थनसे उत्पन्न की जाती थी और 'आहवनीय अग्नि' कहलाती थी। इसके साथ 'गार्हपत्य' तथा 'दक्षिणाग्नि' भी रहती थीं। गार्हपत्य अग्निका एक नाम 'आवसथ' अग्नि भी था, जो विवाहके उपरान्त पति और पत्नीद्वारा श्वशुर-गृहसे अपने घरमें लायी जाती थी। 'आवसथ'का अर्थ है, सब ओरसे बसानेवाला—गृह। गृहस्थ सब प्रकारसे बसे, उजड़ने न पाये, यह भाव आवसथ-अग्निके साथ रहता था। वर्तमान 'अवस्थी' पद इसी अग्निके आधारपर बना है। ये अग्नियाँ बुझने न पायें, ऐसा प्रयत्न किया जाता था।

वेद कहते हैं—**अग्निना अग्निः समिध्यते**—अग्निसे अग्नि प्रज्वलित होती है। अग्नि है तो कर्ममें आग्नेयता तथा तेजस्विता आयेगी। अग्नि नहीं है, तो निरग्नि मानव किसी भी कार्यका सम्पादन नहीं कर सकेगा; न उसके हृदयमें उत्साह जगेगा और न कर्ममें अभिरुचि उत्पन्न होगी। जितने भी उल्लेख्य कार्य इतिहासमें हुए हैं, उन सबका सम्पादन आग्नेय व्यक्तियोंद्वारा ही हुआ है। यज्ञमें वेदी, आसन तथा यूप उतने आवश्यक नहीं हैं, जितनी अग्नि। इन तीनोंको अग्न्याधानका साधन कहा जा सकता है; प्रमुखता अग्निकी ही है।

यज्ञके इन चारों उपकरणोंको अध्यात्ममें घटाइये तो शरीर वेदी है, कर्मेन्द्रियाँ कुशासन हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ यूप हैं, जिनका प्रमुख स्थान मुख है और मन अग्नि है, जिसमें दर्शन-श्रवण आदि सभी विषयोंकी आहुतियाँ पड़ती हैं। मन प्रेरक तथा ग्राहक दोनों है। मनके अभावमें न देखना बनेगा, न सुनना। इसी प्रकार जो देखा जायगा, सुना जायगा, वह मनकी कोठरीमें जमा होगा, बुद्धि उसपर विचार करेगी और चित्त उसे स्मृति तथा संस्कारके रूपमें सुरक्षित रखेगा। वृत्तियोंका निर्माण इन्हीं संस्कारोंसे होता है।

इससे आगे और बढ़िये तो मन वेदी है, बुद्धि यूप है, चित्त आसन है और अहंकार अग्नि है। अहंकार ही मन-बुद्धिका प्रेरक है और अहंकारकी अग्निमें ही मनन, विचार, वृत्ति आदिकी आहुतियाँ पड़ती हैं। अहंकारकी तुष्टि या तृप्ति ही मन-बुद्धि आदिद्वारा की जाती है। और आगे चलिये तो अहंकारका तामस अंश वेदी है, राजस अंश आसन है और सत् अंश यूप है तथा आत्मा अग्नि है, जिसके लिये तीनों गुणोंका पुरुषार्थ आहुति बनता है। पुरुषार्थका अर्थ ही है—जो पुरुष या आत्माके लिये किया जाय। जब पुरुष या आत्माके लिये गुण अर्थशून्य हो जाते हैं, तब आत्मा और गुण दोनों कैवल्यावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं—**'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।'** (योगदर्शन ३। ५५) तथा **'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।'** (योगदर्शन ४। ३४) फिर न गुणोंको पुरुषार्थमें प्रवृत्त होना है और न आत्माको गुणोंसे कुछ लेना-देना है। सत्त्व अथवा प्राकृत गुण प्रतिप्रसवद्वारा अपने कारणमें लीन होकर शुद्ध हो जाते

हैं और पुरुष या आत्मा भी अपने रूपमें प्रतिष्ठित होकर शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर लेता है।

अब शरीर-वेदीके निर्माणपर ध्यान दीजिये। इसके लिये समतल भूमि चाहिये। शरीरकी समतलता वात-पित्त-कफकी समदशा है। ये हैं तो तीनों दोष, पर समदशामें रहनेपर शरीर-साधनाके आधार भी बनते हैं। एक दोष भी यदि कुपित हो गया तो समदशा नहीं रहेगी और परिणामतः शरीर साधनाके अयोग्य हो जायगा। दूसरी बात है—जठराग्निका पाचन-कर्म व्यवस्थित रूपसे चलते रहना। यदि ये दो बातें ठीक हैं तो रक्त-मांस-मेद-अस्थि आदि धातुएँ भी सानुपात रहकर शरीर-धारणमें सहायता करेंगी; मल-मूत्र-स्वेद आदिका विसर्जन भी ठीक होता रहेगा और मन प्रसन्न रहेगा। शरीरमें मन ही माध्यम है। मन प्रसन्न है तो इन्द्रियाँ भी स्वस्थ रहेंगी और भीतरका विज्ञानात्मा भी।

'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्' अथवा **'सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत्'** उक्तियाँ सार्थक हैं। शरीर नीरोग है तो आप सब कार्य कर सकेंगे; और यदि वह रुग्ण है, अस्वस्थ है, चंगा नहीं है तो आप कर्तव्य-पालनमें पिछड़ जायँगे और संसार-समरमें विजयी नहीं बन सकेंगे। वेदीको लीपा जाता है। हमें भी शरीरको घी-दूध खिलाकर चिकना तथा व्यायाम-आसन-प्राणायामद्वारा बलवान् बनाना चाहिये। चित्राङ्कन शरीरमें इन्हीं क्रियाओंद्वारा हो जायगा। वेदीपर कुशासन बिछाये जाते हैं बैठनेके लिये। मन इन्द्रियोंपर बैठकर कार्य करता है। हम जो अङ्गन्यास करते हैं, उसमें अङ्गों तथा इन्द्रियोंको बलवान् एवं यशस्वी बनानेकी प्रार्थना भी है। यदि अङ्ग बलवान् हैं, इन्द्रियाँ समर्थ हैं तो मन इनके द्वारा इच्छित कार्य करा सकेगा। वेदीपर यूप यशका—ख्यातिका द्योतक है। हम बलवान् बनें और अपनी बलवत्ताका प्रयोग यशके अर्जनमें करें। हमारी शक्ति और कर्मठताको देखकर जनता हमारी सराहना करे। हम ऐसे कर्म न करें, जिनसे जनता हमारे ऊपर अङ्गुली उठाये; हमें घृणा और तिरस्कारसे देखे। हमारे कर्म पुण्य कर्म हों तथा हितकर एवं यशप्रद हों। दुष्कर्मोंकी ओर हमारा ध्यान भी न जाय; क्योंकि अंग्रेजीकी कहावत है—As a man thinketh, so is he—मनुष्य जैसा सोचता है, जिधर ध्यान ले जाता है, वैसा ही बन जाता है।

यदि हमारा शरीर वेदी, कर्मेन्द्रियाँ कुश और ज्ञानेन्द्रियाँ यूपका काम करने लगीं तो मनकी अग्नि शुद्ध चिन्तन-मनन तथा संकल्पोंद्वारा प्रदीप्त हो उठेगी। यदि मन प्रदीप्त हो गया तो वितर्क-विचार निर्मल होकर चित्तमें शुभ संस्कारोंका कोष खड़ा कर देंगे। अङ्गन्यासका बल और यश मार्जनकी पवित्रतासे मिलकर ऐहिक लीलाको तो सौन्दर्यसे मण्डित और आह्लादसे सिञ्चित करेंगे ही, परलोक या भावी जीवनको भी उन्नत एवं सत्त्वसे समन्वित कर देंगे। अतः यजनके लिये शरीर-वेदीके निर्माणमें जुट जाइये, अङ्ग-अङ्गको बलवान् बनाइये, समुचित आहार-विहारका सेवन कीजिये, कर्मेन्द्रियोंमें कर्मशूरता लाइये और ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा बाहरसे ज्ञान-विज्ञानको एकत्र कीजिये। इससे मन शिव-संकल्पसे युक्त होकर आपको उत्क्रमणशील बना देगा। यह है—शारीरिक यजनद्वारा मनका निर्माण और **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'**—मन बिगड़ गया तो बन्धन-ही-बन्धन, जरा-मरणका जाल, क्लेशोंका अनवरत आक्रमण; परंतु वह बन गया सुधर गया, शिवसंकल्पोंसे संयुक्त हो गया तो आनन्दधामका निवासी भी बना देगा। यह हुआ शारीरिक यजन। अब मानसिक यजनकी ओर आइये।

मानसिक यजन

ऊपर जो शारीरिक यजनकी चर्चा हुई है, उसका आधार है यजुर्वेदका निम्नाङ्कित मन्त्र—

वेद्या वेदिः समाप्यते बर्हिषा बर्हिरिन्द्रियम्।
यूपेन यूप आप्यते प्रणीतो अग्निरग्निना॥

(१९। १७)

इसी मन्त्रकी विवृति निम्नाङ्कित मन्त्रमें है—

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः॥

(अथर्व० २। ३५। ५; १९। ५८। ५)

मन्त्रमें मुख शरीरका, वाक् कर्मेन्द्रियका तथा चक्षु और श्रोत्र ज्ञानेन्द्रियोंके प्रतीक हैं। मन अन्तःकरण है। सभी यज्ञ कर रहे हैं। विश्वकर्मा प्रभुद्वारा वितत इस यज्ञमें देवतागण प्रसन्न होकर पधारें। मन्त्रमें मन अन्तमें आया है। इन्द्रियोंकी आहुति इसीमें पड़ती है। पर यह भी उसे अपने गर्भमें नहीं रख लेता। इसके साथ उसे भी आगेके यजनमें भाग लेना है, जिसे मानसिक यजन कहते हैं।

मानसिक यजनका संकेत अथर्ववेदके इस मन्त्रमें है—

ऋषी बोधप्रतिबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्॥

(५ । ३० । १०)

शारीरिक यजनमें हम मनतक पहुँचे हैं। अब मनको आधार या वेदी बनाइये और मानसिक यजनमें जुटिये। यह बाह्यकरणकी नहीं, अन्तःकरणकी साधना है। मनमें वितर्क है, निश्चय नहीं। मन खोज तो कर रहा है, पर तत्त्व या वास्तविकताका दर्शन नहीं कर पाता। यह दर्शन बुद्धिका कार्य है। बुद्धि भीतरकी आँख है, ख्यापन करानेवाली। इसी हेतु हमने इसे यूप कहा है। यूपध्वज जैसे यज्ञका संकेत देता है, ज्ञान कराता है, वैसे ही बुद्धि भी अन्तःकेतु है। बुद्धि 'बुध्' और केतु 'कित्' धातुसे बना है। दोनोंका अर्थ है—ज्ञान कराना। यह साक्षात् ज्ञानसे ऊपर है।

उपर्युक्त वेद-मन्त्रमें दो ऋषियोंका वर्णन है, जिन्हें बोध और प्रतिबोध कहा गया है। बोध बाहरसे तो प्रतिबोध अंदरसे सम्बन्ध रखता है। जैसे श्वासके बाद प्रतिश्वास, आहारके बाद प्रत्याहार, वैसे ही बोधके बाद प्रतिबोध होता है। 'प्रति' उपसर्ग जब किसी शब्दमें लगता है, तब उसकी उलटी या विपरीत दिशाका ज्ञान कराता है। जो चेतना इन्द्रियोंके माध्यमसे बाहर खेलती थी, वह 'प्रति' या 'प्रत्यक्' उपसर्गके लगते ही भीतर खेलनेवाली बन जाती है। जो इन्द्रियाँ बाहरसे आहार ग्रहण करती थीं, वे प्रत्याहारमें अन्तर्मुखी होकर चित्तस्वरूपका अनुकरण करने लगती हैं, बाहरसे नहीं, भीतरसे आहरण करती हैं। आहार वह भोजन है, जो हाथद्वारा मुखमें खींचा जाता है, आहृत किया जाता है। मुखसे भी वह आमाशयकी भट्ठीद्वारा और भीतर खींचा जाता है। इसी प्रकार जो बोध बाहरसे प्राप्त हुआ था, अब उसे भीतर ले जाकर प्रतिबोध बनाना है। प्रतिबोध ही प्रत्यक् चेतना है, जिसे पा लेनेपर, जाग्रत् कर लेनेपर बाहर तथा भीतरके सभी अन्तराय या विघ्न नष्ट हो जाते हैं।

बोध अस्वप्न है तो प्रतिबोध जागरण। हैं दोनों ही आभ्यन्तर—भौतिक नहीं, मानसिक। गीताके शब्दोंमें जो सामान्य जनके लिये रात्रि है, वही संयमीके लिये दिन है। अन्य सब बहिर्मुख हैं, संयमी अन्तर्मुख है। बहिर्मुख व्यक्ति शयनकालमें स्वप्न देखता है, जागरणके देखे-सुनेको मिला-जुलाकर देखता-सुनता है, कुछ विशिष्ट व्यक्तियोंको दिवास्वप्न भी आते हैं, पर प्रत्यक् चेतनाके समय विघ्नोंकी समाप्तिसे अस्वप्न अवस्था और तदुपरान्त जागरणकी दशाका उदय होता है। इन्द्रियोंके जागरणमें, बाह्योन्मुख प्रसारमें विघ्न-जन्य क्लेश आते ही रहते हैं और वे स्वप्नकालमें भी दुःखी करते हैं। सुषुप्ति या सम्प्रसादकी अवस्थामें इन्द्रियबोध ही नहीं रहता। अतः जब अन्तर्मुखी प्रत्यक् चेतनामें विघ्नजन्य क्लेश नष्ट हो जाते हैं, तब सर्वप्रथम अस्वप्न, क्लेशरहित बोधऋषि भीतर झाँकने लगते हैं और उनके पश्चात् प्रतिबोधऋषि आकर अन्तर्जागरण उपस्थित कर देते हैं। हैं दोनों ही प्रकाशसे सम्बद्ध द्रष्टा; पर जैसे स्वप्न न रहनेपर हम उठ बैठते हैं और उठकर चारों ओर देखने लगते हैं—बाहरका ज्ञान प्राप्त करते हैं, बाह्यसम्पर्कमें आते हैं, वैसे ही बोध मानो हमें संसारके स्वप्नसे उठा देता है, दूर कर देता है और प्रतिबोध हमें जगाकर आत्मस्वरूपके सम्पर्कमें पहुँचा देता है। यदि बोध और प्रतिबोध साथ लगे रहें, स्वप्नराहित्य तथा अन्तर्जागरण देरतक टिके रहें तो प्राण या अन्तश्चेतना सुरक्षित हो जाती है, फिर उसपर आवरण या आच्छादनका भय नहीं रहता।

मानसिक यजन चैतन्याग्निका यजन है। निम्नाङ्कित मन्त्र इसका स्पष्ट उल्लेख करता है—

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं
नाकस्य पृष्ठाद्दिवमुत्पतिष्यन्।
तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमा-
न्स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः॥

(अथर्व० १८ । ४ । १४)

चित या चैतन्यका प्रभाव मानसिक क्षेत्रसे भासित होने लगता है और स्वयं चितिशक्तिपर समाप्त होता है। चिति मूल है। बुद्धि और मनमें चैतन्यकी किरणें हैं, जो अग्निरूप हैं। आहुति अग्निमें ही दी जाती है। मन्त्रमें इसीलिये चैतन्याग्निका उल्लेख हुआ है। साधक याजक जब चैतन्याग्निमें आहुति देता है, तब अग्निकी ऊर्ध्व शिखाओंकी भाँति वह चैतन्यके शिखर—नाककी पीठपर जाकर अधिष्ठित हो जाता है और वहाँसे भी ऊपर द्यावाकी ओर उड़ने लगता है। ऐसे ही याजक, सुकृती साधकको स्वर्गकी ओर ले जानेवाला देवयान मार्ग आकाशमें चमकता हुआ दिखायी देता है।

मानसिक यजन इस प्रकार हमें भीतर बहुत गहराईतक और ऊपर बहुत ऊँचाईतक ले जाता है। शारीरिक यजन

अङ्गों तथा इन्द्रियोंको निर्मल बनाता हुआ मानसिक नैर्मल्य-तक पहुँचाता है तो मानसिक यजन मन तथा बुद्धिको निर्मल बनाता हुआ चित्त-प्रसादमें अवस्थित कर देता है। पर **निर्माण-चित्तान्यस्मितामात्रात्** (योगदर्शन ४ । ४)—मन और बुद्धिकी आहुति अहंकार-अग्निमें पड़ी थी, जो चित्तोंका निर्माता है; अतः अहंकारका समर्पण अभी शेष है। यहाँतक आते-आते मानसिक यजनद्वारा वितर्क तो समाप्त हो चुका, पर विचार बना हुआ है, जिसके साथ अहंवृत्ति लगी है। विचारशून्यता, निर्विचारता और उसमें भी विशारदता या दक्षता जबतक नहीं आती, तबतक अहंवृत्ति बनी रहेगी। अध्यात्मप्रसाद जो चित्तप्रसादसे ऊपरकी अवस्था है, निर्विचारकी परिपक्वावस्थामें है। सात्त्विक अहंकार यहाँ भी रहेगा, पर उसके तम और रज अंश दब जायँगे। ऋतम्भरा प्रज्ञा इसी स्थितिमें उदय होती है। अहंकार-की सात्त्विकतासे इसके संस्कार भी बनते हैं, पर वे निर्मलतम संस्कार हैं। योगी इनका भी निरोध करके निर्बीज समाधिमें पहुँचते हैं।

यजन सृष्टिके साथ लगा है। प्रभुकी रचना यज्ञमय है। मनुष्य अपने कुकर्मोंसे ही इसे विकृत करता है और क्लेश-भाजन बनता है। सत्कर्म कुकर्मोंको काटते हैं। यज्ञसे बढ़कर कोई सत्कर्म नहीं है। यह श्रेष्ठतम—पवित्रतम कर्म है। हम शारीरिक तथा मानसिक यजनद्वारा अपने अन्तर्बाह्यको पवित्र करें। संध्या अथवा ब्रह्मयज्ञद्वारा प्रति प्रातः-सायं यज्ञरूप प्रभुके सांनिध्यका अनुभव करें, पितृपूजा करके परिवारको पवित्र बनायें, देवयज्ञद्वारा बाह्य वातावरणकी निर्मलता सम्पादित करें, भूतयज्ञ या बलिवैश्वदेव करके समस्त प्राणियोंके साथ सौहार्द स्थापित करें और अतिथि-यज्ञद्वारा ज्ञानका संवर्धन करें। अतिथि-पूजा विशेषरूपसे उन ज्ञाननिधान साधु-संतोंकी पूजा है, जो विश्वकल्याणके लिये अपने सर्वस्वको आहुत कर चुके हैं।

पञ्च महायज्ञोंके अतिरिक्त कुछ विशेष यज्ञ भी हैं, जिनमें गोमेध वैश्यके लिये, राजसूय क्षत्रियके लिये और वाजपेय ब्राह्मणके लिये हैं। शूद्रका श्रम सबके साथ लगा है। सभी प्रकारके यज्ञ श्रमसाध्य हैं। अतः उसके अभावमें यज्ञका सम्पादन हो ही नहीं सकेगा। सभी वर्ण अन्योन्याश्रित हैं। एकको दूसरेकी अनिवार्य अपेक्षा है। एक-एक शरीर इसी हेतु चारों वर्णोंको अङ्गोंके रूपमें अपने भीतर समाहित किये हैं। विश्वके सभी प्राणी इन्हीं वर्णोंमेंसे किसी-न-किसी वर्णसे सम्बन्ध रखते हैं। अतः विश्व भी एक विराट् शरीर है। हम सब इसी विराट् शरीरके अङ्ग हैं। यदि इस तथ्यको हम अनुभव कर सकें और पारस्परिक सहयोगद्वारा सर्वोदयमें जुट सकें तो इस पृथ्वीको ही हम स्वर्ग बना सकते हैं।

यजन-क्रिया वस्तुतः व्यक्ति तथा विश्व—दोनोंके लिये कल्याणकारिणी है।

'सुधि राखो वा दिन की!'

कछु तुम सुधि राखो वा दिन की!
जा दिन तेरी देह छुटेगी, ठौर बसोगे बन की॥
जिन के संग बहुत सुख कीन्हे, मुख ढकि होइहैं न्यारे।
जम की त्रास होइ बहु भाँती, कौन छुटावनहारे॥
देहरी लौं तेरी नारि चलैगी, बड़ी पौरि लौं माई।
मरघट लौं सब बीर-भतीजे, हंस अकेलो जाई॥
द्रव्य गड़े अरु महल खड़े ही, पूत रहैं घर माहीं।
जिन के काज पचे दिन-राती, सो सँग चालत नाहीं॥
देव-पितर तेरे काम न आवैं, जिन की सेवा लावे।
'चरणदास' सुकदेव कहत हैं, हरि बिनु मुक्ति न पावे॥

(श्रीचरणदासजी)

गोस्वामी तुलसीदासजीकी भक्ति-भावना

['गीतावली'के परिप्रेक्ष्यमें]

(लेखक—डा० श्रीपरमलालजी गुप्त, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

तुलसीका युग पराधीनताका युग था। हिंदू जातिपर प्रहार-पर-प्रहार हो रहे थे। निराशा बढ़ती जा रही थी। ऐसे समय बाह्य जीवनमें कोई अवलम्ब न पाकर लोग किसी अलौकिक शक्तिका आश्रय खोज रहे थे। पहले कबीर आदि संतोंने भगवान्‌का निर्गुण, अव्यक्त, अगोचर रूप सामने रखा। परंतु यह रूप लोगोंकी दृष्टिसे ओझल होनेके कारण वास्तविक उपचार न कर सका। उल्टे अटपटी और रहस्यात्मक उक्तियोंसे जनता गुमराह होने लगी। सूर और तुलसीने इस तथ्यको हृदयंगम करके उस अलौकिक और अव्यक्त शक्तिको लोकके बीच अवतरित किया। यही रूप प्रेमके लिये सहज हो सकता था। निर्गुणिए संतोंने बाह्य जगत्‌में भगवान्‌की सत्ताको अस्वीकार कर दिया था। वे उसकी खोज हृदयमें ही करते थे। कबीरने कहा था—

मोकों कहाँ ढूँढ़े बन्दे मैं तो तेरे पास में।
ना मैं मंदिर, ना मैं मस्जिद, ना काबा कैलास में॥

इसके विरुद्ध गोस्वामीजीने उसकी सत्ता बाहर मानी—

प्रगटे प्रभु पाहनतें, न हियेतें।

(कवितावली ७। १२९)

इसी आधारपर उन्होंने अगोचर एवं अव्यक्त ईश्वरको लोकके बीच प्रतिष्ठित कर दिया, जो भक्तोंका सहज आलम्बन बन सकता था, उनका दुःख निवारण करनेमें सहायता कर सकता था, जो स्वामी, सखा, पति, पुत्र आदि सम्बन्धोंद्वारा उनके निकट आ सकता था। आलम्बनके इस स्वरूपकी अवतारणासे भक्तिकी एक नयी लहर दौड़ गयी। आशाके सौरभसे जीवन-वन सुरभित हो उठा।

गोस्वामीजीकी भक्ति-पद्धतिकी विवेचना करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि सच्चा भक्त भक्ति-शास्त्रकी विधाओंसे नियन्त्रित नहीं होता। गोस्वामीजी भक्तिके साधकके रूपमें हमारे समक्ष आते हैं, कबीर आदि संतोंकी तरह ब्रह्मानुभूतिमें सिद्ध भक्तोंकी तरह नहीं। वे अपनेको माया-पाशमें आबद्ध, अज्ञानान्धकारमें भटकनेवाला एक तुच्छ जीव मानते हैं। आत्मदोषोंकी ऐसी स्पष्ट स्वीकारोक्ति सच्चे साधकोंमें ही हो सकती है। उनकी भक्ति शास्त्रकी रीति-नीतियोंसे अनुशासित नहीं हुई; उसमें उनका हृदय बोल रहा है। यद्यपि गोस्वामीजीने वैधी भक्तिके अङ्गोंका भी उल्लेख किया है, तथापि उसमें प्रेमकी प्रधानता है। 'गीतावली'के पदोंमें उनके भीतरका भक्त अपनी भाव-धारा उड़ेल रहा है। प्रेमकी रस-धारामें मग्न वह भक्त श्रीरामकी महिमाका बखान कर रहा है। सूरकी भक्तिसे यह भक्ति किंचित् भिन्न अवश्य है; क्योंकि गोस्वामीजीने इसे लोकसे सम्बद्ध कर दिया है।

श्रीमद्भागवतमें फलकी आकाङ्क्षाके आधारपर चार प्रकारकी भक्तियाँ मानी गयी हैं—१–तामसी, २–राजसी, ३–सात्त्विकी और ४–निर्गुणा। गोस्वामीजीकी भक्ति चौथे प्रकारकी है। इस भक्तिकी साधना करनेवाला भक्त भगवान्‌से किसी फलकी कामना नहीं करता। यह निष्काम भक्ति है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इस निष्काम भक्तिको बहुत महत्त्व दिया गया है। गोस्वामीजी भक्तिको छोड़कर अन्य किसी फलकी आकाङ्क्षा नहीं करते और अवसर मिलनेपर भगवान्‌से भक्तिका ही वर माँगते हैं—

तुलसिदास जिय जानि सुअवसर भगति-दान तब माँगि लियो।

(गीतावली ७। ३८)

वे मोक्ष भी नहीं चाहते। भक्तके लिये भक्तिका आनन्द ही उसका चरम फल है।

श्रीरामके माहात्म्यका वर्णन करते हुए तुलसीदासजी कभी अघाते नहीं। कभी वे अपने आराध्यकी अनन्त रूपराशिके अनुभवसे प्रेम-पुलकित हो जाते हैं, कभी अनन्त शक्तिकी झलक पाकर विस्मित एवं उत्साहित हो उठते हैं और कभी अनन्तशीलका स्मरण करते-करते भाव-विभोर हो उठते हैं। भगवान् श्रीरामकी दान-शीलता, भक्त-वत्सलता, पतित-पावनता आदिकी चर्चा करते वे थकते नहीं, यथा—

दूसरो न देखतु साहिब सम रामै।
बेदउ पुरान, कबि-कोबिद बिरद-रत,
जाको जस सुनत, गावत गुन-ग्रामै॥

(गीतावली ५। ३५)

महत्त्वकी अनुभूतिके साथ ही अपने लघुत्व या दैन्यकी अनुभूतिका भी पूर्ण विकास गोस्वामीजीमें मिलता है। अपने दोषों, अवगुणों, अज्ञान, माया आदिकी स्वीकारोक्ति मनको निर्मल कर देती है। ऐसा करनेसे एक प्रकारका संतोष भी प्राप्त होता है, जिसे आधा लाभ समझना चाहिये। 'गीतावली'-में तुलसीदासजीने स्थान-स्थानपर अपनेको किंकर, चेरो, जूठन खानेवाला, भिखमंगा, पतित, पापी आदि कहा है—

कहिहौं, बलि, रोटिहा रावरो, बिनु मोलही बिकाऊँगो।
तुलसी पट ऊतरे ओढ़िहौं, उबरी जूठनि खाऊँगो॥
(गीतावली ५। ३०)

तुलसीदासजीकी यह समर्पण और दीनताकी भावना भगवान्के प्रति है; प्राकृत मनुष्योंके प्रति नहीं। वे भगवान्के 'रोटिहा' अथवा 'टुकड़खोर' कहलानेको भी तैयार हैं। तुलसीकी इस दास्य-भावकी भक्ति-पद्धतिमें बहुत-से समीक्षक लल्लो-चप्पो या चापलूसीकी गंध पाते हैं, जो उनकी भगवान्से निकटता नहीं; बल्कि दूरीकी परिचायक है। इस सम्बन्धमें हमारा मन्तव्य है कि तुलसीदासजीकी लघुत्वकी भावना इस प्रकर्षको पहुँची है कि अन्तमें महत्त्वको उसे अपनाना पड़ता है। अतः यह दूसरे रूपमें महत्त्व ही है। गोस्वामीजीको केवल अपने हितका ध्यान नहीं था। वे सारे समाजको अपने साथ लेकर चलना चाहते थे। वे समाजमें व्याप्त घोर कष्टोंसे दुःखी थे और सारे समाजका कल्याण चाहते थे। इसलिये उन्होंने सेव्य-सेवक-भावकी भक्तिका निष्कण्टक एवं पवित्र मार्ग अपनाया। समाजके लिये भक्तिका यही रूप उपयोगी था।

गोस्वामीजीने अपने आराध्यमें अनन्त शक्ति, शील और सौन्दर्यका समन्वय अनुभव किया है। जहाँ एक ओर सौन्दर्य-की अनन्त राशि जनकपुरके नर-नारियों और ग्रामवधूटियोंका मन विमोहित करती है, वहाँ दूसरी ओर इस महान् शक्ति-द्वारा लोक-पीड़कोंका विनाश होता है। इसके साथ ही शीलके असामान्य उत्कर्षको संयुक्त करके गोस्वामीजीने सदाचार और भक्तिको अन्योन्याश्रित करके दिखा दिया। कौशिक-द्वारा राम-लक्ष्मणका यह परिचय देखिये—

ए दोऊ दसरथके बारे।
नाम राम घनस्याम, लषन लघु, नखसिख अँग उजियारे॥
निज हित लागि माँगि आने मैं धर्मसेतु-रखवारे॥
धीर, बीर, बिरुदैत, बाँकुरे, महाबाहु, बल भारे॥
(गीतावली १। ६८)

गोस्वामीजीने श्रीराममें तीनों स्वरूपोंका उत्कर्ष दिखाकर भक्तिके लोकोपयोगी स्वरूपकी अवतारणा की। 'गीतावली'में सौन्दर्य-पक्षकी कुछ अधिक प्रधानता है। उसमें शक्ति और शीलका सौन्दर्यमें ही समन्वय हुआ है।

भक्ति एक रागात्मिका वृत्ति है, जिसका सम्बन्ध हृदयसे है। वह ज्ञानका क्षेत्र नहीं है। गोस्वामीजीका मार्ग भी ज्ञान-मार्ग नहीं है। उनके मतानुसार तर्क और सिद्धान्त केवल बुद्धिका वितण्डावाद खड़ा करते हैं। उनसे उस परम सत्ताकी अनुभूति दूर ही रहती है। भगवान्को प्राप्त करनेका सीधा रास्ता प्रेम है—

जोग न बिराग जाग, तप न तीरथ त्याग,
एही अनुराग भाग खुले तुलसी के हैं।

परंतु जहाँ गोस्वामीजी एक ओर भक्तिको ज्ञानसे श्रेष्ठ मानते हैं, वहाँ दूसरी ओर ज्ञानद्वारा भक्तिकी प्रतिस्थापना उन्नत कोटिकी समझते हैं। ज्ञानसे भक्ति श्रेष्ठ है, लेकिन भक्तिसे ज्ञानसमन्वित भक्ति श्रेष्ठ है। गोस्वामीजीकी भक्तिमें विरति और विवेकको समुचित स्थान प्राप्त है।

गोस्वामीजीके समयमें भक्तिकी अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थीं। कई सम्प्रदाय चल रहे थे। गोस्वामीजीने सबको अस्वीकार करके एकमात्र श्रीरामभक्तिका जोरदार समर्थन किया। साथ ही सभी सम्प्रदायोंको अपने मार्गमें समन्वित किया। देववादका ऐसा समन्वय शायद ही अन्यत्र मिले। कबीरने जिस मार्गद्वारा बहुदेववादको हटाकर एकेश्वरवादका नारा बुलन्द किया था, वह इसका सही उपचार नहीं था। गोस्वामीजीने श्रीरामकी भक्तिमें ही शिव आदि सभी देवताओंकी भक्तिको उचित स्थान देकर सही मार्गका अवलम्बन किया। उन्होंने श्रीराम-भक्तिके लिये पहले शिव-भक्ति अनिवार्य मानी। विभीषण शिवकी प्रेरणासे ही श्रीरामके समीप पहुँचते हैं—

संकर-सिख-आसिष पाइकै।
चले मनहिं मन कहत बिभीषन सीस महेसहि नाइकै॥
(गीतावली ५। २८)

गोस्वामीजीकी भक्तिमें व्यक्ति और समाज दोनोंके हितोंका सामञ्जस्य है। गोस्वामीजी व्यक्तिके कल्याणके लिये सभी सांसारिक बन्धनोंको त्यागकर एकमात्र भगवान् श्रीरामकी भक्तिको महत्त्व देते हैं। दूसरी ओर गोस्वामीजी लोकहितकी दृष्टिसे समाजके सभी बन्धनों, मर्यादाओं, कर्त्तव्यों एवं सम्बन्धोंको स्वीकार करते हैं, जो सामाजिक जीवनके उन्नयनमें योग देते हैं और सदाचारकी रक्षा करते हैं। गोस्वामीजीकी भक्तिका मुख्य उद्देश्य जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें समन्वय लाना था। उनकी व्यापक दृष्टि भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंमें फैले हुए जीवनके विशाल क्षेत्रतक पहुँची थी और उन्होंने उसके लिये उपयोगी तत्त्वोंका चयन किया था। इससे उन्होंने भक्तिका ऐसा रसायन तैयार किया, जो युग-युगतक मानवताको संजीवनी शक्ति देनेमें समर्थ है। इसी कारण उनकी भक्ति वैधी अथवा रागानुरागा—किसी एक शास्त्रीय विधि-विधानमें नहीं बँधती। वह एक ऐसा सम्मिश्रण है, जिसमें भिन्न-भिन्न द्रव्योंका स्वतन्त्र अस्तित्व विलीन हो गया है और जिससे समाजके स्वास्थ्यकी रक्षा होती है।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(बृहन्नारदीयपुराण)

'एकमात्र श्रीहरिका नाम ही, नाम ही, नाम ही मेरा जीवन है। कलियुगमें निश्चय ही और कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।'

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य। तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम॥

'जिस प्रकार सूर्यभगवान् एक बार उदय होनेमात्रसे ही लोगोंके सम्पूर्ण अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीहरिका नाम एक बार उच्चारणमात्रसे ही जीवमात्रके समस्त पापोंको नष्ट कर देता है; अतएव जगत्के मङ्गलरूप श्रीहरिनामकी जय हो!'

हमारे शास्त्रोंने तथा संतोंने भगवान्के नाम-स्मरणको कलियुगका मुख्य धर्म माना है। इतना ही नहीं, जगत्के समस्त धर्म-सम्प्रदाय भी किसी-न-किसी रूपमें भगवान्के नामस्मरणके महत्त्वको स्वीकार करते हैं। नामके स्मरणमें देश-काल-पात्रका कोई भी नियम नहीं है। श्रीश्रीचैतन्यमहाप्रभुने कहा है—

'नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिस्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।'

'हे भगवन्! आपने लोगोंकी विभिन्न रुचि देखकर नित्यसिद्ध अपने बहुत-से नाम कृपा करके प्रकट कर दिये, प्रत्येक नाममें अपनी सारी शक्ति भर दी और नाम-स्मरणमें देश-काल-पात्रका कोई नियम भी नहीं रखा।'

'कल्याण'के माध्यमद्वारा भी आरम्भसे ही भगवान्के नाम-स्मरणका प्रचार हुआ है; कारण 'कल्याण'के प्रवर्तक एवं आदि सम्पादक परमश्रद्धेय नित्यलीलालीन हमारे भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी पूर्वजन्मके संस्कारवश एवं भगवत्कृपासे बाल्यकालसे ही भगवन्नामके प्रति बड़ी निष्ठा तथा रुचि थी और उन्होंने जीवनभर नामकी साधना की। वे आजीवन षोडशनाम-महामन्त्र—**'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'** का जप करते रहे। उन्होंने श्रीभगवन्नाम-स्मरणको ही वर्तमान युगके लिये एकमात्र साधन माना। एक स्थानपर उन्होंने लिखा है—

'इस नामके सिवा संसार-सागरसे पार कर देनेवाला दूसरा कोई भी सहज साधन मुझे दृष्टिगोचर नहीं होता। ×××××× मैं भगवन्नामकी महिमा क्या लिखूँ? मैं तो नामका जिलाया जी रहा हूँ।' एक बार ऋषिकेशके सत्सङ्गमें भी उन्होंने कहा था—'मैं भगवान्के नामके जपपर जोर क्यों देता हूँ? इसका कारण यही है कि मैंने जीवनभर यही किया है। जो कुछ भी अच्छी बात मेरे जीवनमें आयी है, वह नाम-जप एवं भगवत्कृपाके प्रतापसे। पारमार्थिक जीवनका आरम्भ नाम-जपसे हुआ और जीवनमें साधना भी इसीकी हुई है।'

श्रीभाईजी स्वयं तो नाम-परायण थे ही, वे जगत्के जीवोंको भी नाम-परायण करना चाहते थे। अतएव उन्होंने 'कल्याण'के प्रवर्तनसे एक वर्ष पूर्व ही अर्थात् संवत् १९८२ में, जब वे बम्बईमें निवास करते थे, सामूहिक नाम-जपके लिये प्रार्थना की। मित्रों, स्वजनों तथा नाम-प्रेमियोंने उनके इस सत्प्रयासका स्वागत किया और 'पर्याप्त

नाम-जप हुआ। संवत् १९८३ में जब 'कल्याण'का प्रवर्तन हो गया, तब श्रीभाईजीने 'कल्याण'के द्वारा भगवन्नामके प्रचारका उद्घोष किया। प्रथम वर्षके सातवें अङ्कमें (अर्थात् माघ सं० १९८३ में) उन्होंने उसी वर्षकी फाल्गुन पूर्णिमातक, अर्थात् २ मासके अल्प समयमें षोडशनाम-महामन्त्रके साढ़े तीन करोड़ जप करनेकी 'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना की। सच्चे नामप्रेमीकी प्रार्थनाका आशातीत प्रभाव होता ही है। फलतः उस वर्ष प्रार्थित संख्यासे दस-गुनी संख्यामें नाम-जप हुआ। इसके पश्चात् तो श्रीभाईजी नाम-प्रचारपर तुल गये और उन्होंने 'कल्याण'का प्रथम विशेषाङ्क अर्थात् श्रावण सं० १९८४ का अङ्क ही '**श्रीभगवन्नामाङ्क**'के नामसे प्रकाशित किया। इस अङ्कके पठन-मननसे सहस्रों व्यक्ति नाम-परायण हुए। तबसे श्रीभाईजी प्रतिवर्ष 'कल्याण'में नाम-जपके लिये प्रार्थना प्रकाशित करने लगे तथा उस प्रार्थनापर ध्यान देकर देश-विदेशमें फैले हुए 'कल्याण'के पाठक-पाठिकाएँ बड़े उत्साह एवं प्रेमसे नाम-जप करते-करवाते रहे। इतना ही नहीं, श्रीभाईजी अपने सत्सङ्गमें नामस्मरणपर विशेष जोर देते थे। व्यक्तिगतरूपसे साधना पूछनेवालोंको भी वे नामजप अवश्य बतलाते थे।

किंतु विधिका विधान! हमारे स्नेहमूर्ति श्रीभाईजी, जिनका तन-मन-प्राण श्रीभगवन्नाममय हो गया था, प्रत्यक्षरूपमें आज हमारे बीच नहीं हैं। परंतु शास्त्रों एवं संतोंद्वारा प्रतिपादित तथा हमारे परमश्रद्धेय श्रीभाईजीद्वारा प्रचालित नाम-स्मरणकी इस साधन-परिपाटीको बराबर चालू रखना अपना कर्तव्य मानकर **'कल्याण'के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे हम विनम्र प्रार्थना करते हैं कि वे गत वर्षोंकी भाँति इस वर्ष भी कृपापूर्वक स्वयं प्रेम एवं उत्साहके साथ अधिक-से-अधिक नाम-जप करें तथा प्रेरणा देकर अपने स्वजनों, बान्धवों, पड़ोसियों आदिसे करायें। इसमें उनका और उनकी इस प्रार्थनाको जो भी स्वीकार करेंगे, उनका परम हित होगा।**

गत वर्षोंकी भाँति इस वर्ष भी—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'

—इस १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जा रही है। नियमादि इस प्रकार हैं—

१–यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है।

२–इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १५, शुक्रवार, सं० २०३१ (२९ नवम्बर १९७४) से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला १५, शुक्रवार, सं० २०३२ (२५ अप्रैल १९७५) तक रहेगा। जप इस समयके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५, सं० २०३२ को समझनी चाहिये। पाँच महीनेका समय है। उसके आगे भी जप किया जाय तो बहुत ही उत्तम है, करना ही चाहिये। देरसे जपकी सूचना मिले तो जब मिले, तभीसे जप आरम्भ कर देना चाहिये।

३–सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

४–एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'—इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप तो अवश्य करना चाहिये। अधिक कितना भी किया जा सकता है।

५-संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, अँगुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रखी जा सकती है।

६-यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए—सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७-बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि यह सम्भव न हो तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८-घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९-स्त्रियाँ रजोदर्शनके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं, किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०-इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं; पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्र-जपकी ही दें। लिखित भगवन्नाम हमें नहीं भेजने चाहिये; कारण, हमारे यहाँ उनके पूजन आदिकी व्यवस्था नहीं है।

११-सूचना भेजनेवाले महानुभाव केवल जप-संख्याकी सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२-संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपें तो उनके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिनमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो भाई-बहन मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३-सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र-पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो, उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्र-पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र-पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४-जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साह-वृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५-सूचना संस्कृत, हिंदी, राजस्थानी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी अथवा उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६-सूचना भेजनेका पता—'नाम-जप-विभाग', 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीतावाटिका (गोरखपुर)

प्रार्थी—संयोजक, नाम-जप-विभाग

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सच्ची विद्वत्ता

हमारे राष्ट्रीय गान 'वन्दे मातरम्' के रचयिता तथा प्रसिद्ध उपन्यासकार श्रीबंकिमचन्द्र चट्टोपाध्यायके विचारोंसे लोग बहुत प्रभावित थे। विभिन्न विषयोंके सम्बन्धमें लोग उनके कथनोंका बड़ा आदर करते थे। एक बार एक गोष्ठीमें एक विषयपर उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये। उनके श्रद्धालुओं एवं प्रशंसकोंको वे विचार बहुत ही प्रिय लगे, किंतु समाजके व्यापक हितकी दृष्टिसे उनमें कुछ परिवर्तन अपेक्षित था। गोष्ठीमें उपस्थित एक सज्जनने जब श्रीबंकिमबाबूके विचार सुने तो उन्हें लगा कि कुछ लोग इन विचारोंसे गुमराह हो सकते हैं। पर श्रीबंकिमबाबूके कथनपर कुछ भी टिप्पणी करना बड़े साहसका कार्य था। उन सज्जनने साहस बटोरा और बड़े ही विनम्र शब्दोंमें उन्होंने अपनी बात श्रीबंकिमबाबूके समक्ष रखी। श्रीबंकिमबाबूने बड़े ध्यानसे उनकी बात सुनी। उनको उन सज्जनके कथनके अनुसार अपने शब्दोंमें कुछ सुधार कर देनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने उसी समय अपने पूर्व कथनके लिये उपस्थित समुदायसे क्षमा माँगी और नये रूपसे उस विषयपर अपने विचार प्रकट कर दिये।

श्रीबंकिमबाबू-जैसे विद्वान्को इस प्रकार जनताके समक्ष एक सामान्य व्यक्तिके कहनेपर अपने कथनमें परिवर्तन करते देख श्रद्धालु और प्रशंसकोंके हृदयको बड़ी ठेस लगी। कुछ आलोचकोंने व्यंग्य वचन कहे—"एक विषयपर थोड़ी देरमें दो प्रकारके मत प्रकट करना क्या विद्वान्का कार्य है? क्या इसीको विद्वत्ता कहते हैं?" आलोचकोंके इन शब्दोंसे श्रद्धालुओं और प्रशंसकोंके हृदयमें और भी क्षोभ हुआ, पर उस समय विवाद करनेसे भी कुछ लाभ न होता देख वे चुप रहे।

गोष्ठीका कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। श्रद्धालुओं और प्रशंसकोंने श्रीबंकिमबाबूको चारों ओरसे घेर लिया। एक मित्रने उनसे कहा—'आजकी इस गोष्ठीसे आपकी प्रतिष्ठाको पर्याप्त धक्का पहुँचा है। जब एक विषयपर आपने अपने विचार व्यक्त कर दिये तो फिर उसमें परिवर्तन नहीं करना चाहिये था।' श्रीबंकिमबाबू साधु-पुरुष थे, वे सच्चे अर्थोंमें विद्वान् थे। 'विद्या ददाति विनयम्।'—विद्या मनुष्यको विनयशील बनाती है; विद्याके आकर श्रीबंकिमबाबूमें फिर भला विनयशीलताका उज्ज्वल रूप क्यों नहीं विद्यमान रहता। उन्होंने उपालम्भ देनेवाले मित्रों और प्रशंसकोंसे कहा—"जिस व्यक्तिको कभी अपना मत परिवर्तन करनेकी आवश्यकता नहीं होती, वह सचमुच 'महापुरुष' है। जो व्यक्ति मनमें यह अनुभव करे कि उसका कथन भूलभरा है,—समाजके व्यापक हितकी दृष्टिसे उसमें परिवर्तनकी अपेक्षा है, परंतु अपनी झूठी प्रतिष्ठाके व्यामोहमें उसे सुधारनेका प्रयत्न न करे, वह दम्भी है। भाई! बात यह है कि मैं महापुरुष तो हूँ नहीं कि मुझसे कभी भूल न हो और 'दम्भी' मैं बनना नहीं चाहता। अतएव जब मुझे अपने कथनकी भूल समझमें आयी तो उसमें परिवर्तन करना ही मैंने श्रेयस्कर समझा। अब आपलोग मुझे चाहे प्यार करें, चाहे उपालम्भ दें।'

मित्र लोग एक सच्चे विद्वान्के वास्तविक स्वरूपका परिचय प्राप्तकर मुग्ध हो गये।

(२)

व्रत-पालन!

बात पुरानी है—पाँच-सात जैन मुनि एक नदीके समीपकी सड़कसे पैदल जा रहे थे। रास्तेमें एक गाँव आया। गाँवकी स्त्रियाँ नदीमें पानी भर रही थीं, अचानक एक स्त्रीका पैर फिसला और वह गहरे जलमें चली गयी। स्त्री चिल्लाने लगी—'बचाइये, बचाइये', पर वहाँ तटपर कुछ अबला स्त्रियोंके अतिरिक्त कोई नहीं था।

जैन मुनियोंके कानोंमें वह स्वर पहुँचा—'बचाइये, बचाइये।' सबकी आँखें स्वरकी ओर गयीं; देखा—एक महिला गहरे जलमें गिर गयी है और डूबनेवाली ही है। पर पानीमें कूदकर कैसे एक महिलाको जलसे निकाला जाय?—मुनियोंके सामने प्रश्न स्वाभाविक था। किंतु आश्चर्यकी बात, एक मुनि दौड़े और उन्होंने नदीमें छलाँग लगा दी। वे तैरना जानते थे, अतएव उस महिलाको नदीके भँवरमेंसे बचाकर वे बाहर ले आये तथा उसे भूमिपर लिटा दिया। साथकी महिलाओंने उसे

सँभाला और वह कुछ देर पश्चात् होशमें आ गयी। जैन मुनियोंने अपना मार्ग पकड़ा।

बस्तीसे आगे जानेपर साथी मुनियोंमेंसे एकने उलाहना दिया—'आपने यह क्या किया? एक महिलाका स्पर्श करके अपना व्रत क्यों भङ्ग किया? जगत्‌में तो इसी प्रकार जन्म-मृत्युके प्रसङ्ग आते रहते हैं, मुनिको अपने व्रतका कठोरतासे पालन करना चाहिये।'

महिलाकी प्राण-रक्षा करनेवाले मुनिने साथीकी बात सुनी, पर वे मौन रहे। उन्होंने किसी रूपमें अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की; वे निरपेक्ष रहे।

संध्या हुई। प्रतिक्रमण पूरा हुआ। बस्तीके बाहर मुनियोंने अपना डेरा डाला। आलोचक मुनि उस मुनिके पास आये और बोले—'आपने क्या प्रायश्चित्त करनेका निश्चय किया है? पाप साधारण तो नहीं है!'

मुनिने शान्तभावसे उत्तर दिया—"मैंने तो मौतके मुँहमें पड़े हुए एक आर्त—असहाय प्राणीको जलसे बाहर निकाला है; यह पाप हुआ या पुण्य—यह मैं नहीं जानता। उस प्राणीका शरीर पुरुषका था या महिलाका, इस ओर मेरी दृष्टि नहीं थी, न अब है। उसे किनारेपर छोड़नेके पश्चात्‌से मुझे उसकी स्मृति ही नहीं है, पर आप तो अब भी उस 'महिला'को अपने मनमें उठाये फिर रहे हैं।"

आलोचक मुनि चुप हो गये, लज्जासे उनका मस्तक नत हो गया।

(३)

कृतज्ञताका परिणाम

जूजनके* बादशाहका सदाचरण-सम्पन्न एक वजीर परहिताकाङ्क्षी था। वह किसीको किसी प्रकार दुःख स्वयं तो कैसे देता, जब दूसरोंका दुःख देखकर वह निरन्तर उनके दुःखका निवारण करनेके लिये तन-मन-धनसे प्रयत्न करता ही रहता। वह प्रायः कहा करता—'शत्रुको प्रसन्न रखनेका सर्वोत्तम उपाय है कि तुम पीठ-पीछे अपनी निन्दा करनेवालेके सम्मुख उसकी प्रशंसा करो। यदि किसी शत्रुके कटुवाक्य रोकना चाहो तो शब्द निकलनेके पूर्व ही उसका मुँह मीठा कर दो।'

* ईरानमें हिरात और नैशापुरके बीच जूजन नामक एक शहर।

एक बारकी बात है—बहुत सद्गुणसम्पन्न वजीरपर भी किसी कारण बादशाह अप्रसन्न हुआ और उसे बंदीगृह भेज दिया। कारागारके कर्मचारी वजीरकी परोपकार-भावनासे प्रभावित थे। कितने तो विपत्तिमें वजीरसे उपकृत हो चुके थे। इस कारण बंदी-जीवनमें उसके साथ किसी प्रकारके असद्व्यवहारका तो प्रश्न ही नहीं, वे सभी वजीरको प्रत्येक दृष्टिसे सुख पहुँचानेका प्रयत्न करते रहते।

बंदी-जीवनमें ही एक दिन उसे अत्यन्त गुप्तरीतिसे पड़ोसी बादशाहका पत्र मिला। उसमें लिखा था—'अत्यन्त खेदकी बात है कि तुम्हारा बादशाह तुम्हारे-जैसे गुणी व्यक्तिका यथार्थ सम्मान करना तो दूर, तुम्हें कष्टकर जीवन व्यतीत करनेके लिये विवश कर रहा है। यदि तुम मेरा आश्रय ग्रहण कर लो तो तुम्हें अत्यन्त सुख और सम्मानपूर्वक रखूँगा। अच्छा तो यही है कि तुम मेरे यहाँ आकर सानन्द गौरवमय जीवन व्यतीत करो। तुम्हें कारागारसे यहाँ लानेकी समुचित व्यवस्था हो जायगी। मैं अधीरतापूर्वक तुम्हारे उत्तरकी प्रतीक्षा करूँगा।'

वजीरने ध्यानपूर्वक पत्र पढ़ा, फिर कुछ सोचकर उसी पत्रके पीछे अपना उत्तर लिख दिया। बादशाहके एक शुभैषीने बात ताड़ ली। उसने तुरंत बादशाहको सूचना दी—'आपने वजीरको कारागारमें बंद कर दिया है, पर वह वहाँसे पड़ोसी बादशाहसे पत्र-व्यवहार कर रहा है।'

बादशाह क्रोधमें काँपने लगा। पत्रके साथ पत्रवाहक पकड़ा गया। पत्रकी पीठपर वजीरने उत्तररूपमें लिखा था—'आपने मेरी जितनी प्रशंसा की है, मैं उसके योग्य सर्वथा नहीं हूँ। आपका आदेश मैं किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं कर सकता। इस श्रेष्ठ शाही परिवारसे मेरा पालन हुआ है। इनका नमक मेरे रक्तमें दौड़ रहा है। यदि इनकी दृष्टिमें मेरी कोई त्रुटि आ गयी और इन्होंने मुझे कारागारमें भेज दिया तो इस कारण मैं इनके उपकारोंको भूल जाऊँ, यह सम्भव नहीं। क्या आपने यह कहावत नहीं सुनी कि 'बराबर भलाई करनेवालेकी एकाध बुराई सदा क्षम्य होती है।'

बादशाह बड़ा प्रभावित हुआ। उसने वजीरको बन्धनमुक्त कर उसे श्रेष्ठ उपाधि और पुरस्कार प्रदान किया। साथ ही पश्चात्ताप करते हुए उसने कहा—'तुम्हारे-जैसे कृतज्ञ और निर्दोष व्यक्तिको कारागार भेजकर मैंने बड़ी भूल की।'

'जहाँपनाह ! मैं आपको सर्वथा निर्दोष समझता हूँ ।' —अत्यन्त विनम्रतापूर्वक वजीरने उत्तर दिया—'यह तो सर्वान्तर्यामी दयामय प्रभुकी इच्छा: थी । यह अच्छा ही हुआ कि तावेदारको थोड़ी तकलीफ उस पुरुषसे पहुँची, जो सदा मुझपर कृपालु रहा है । मित्र और शत्रुसे अच्छा और बुरा व्यवहार करानेवाले वे सर्वेश्वर प्रभु ही हैं । बाण धनुषसे छूटता है, किंतु बुद्धिमान्‌की दृष्टि धनुर्धरपर रहती है ।' —श्रीराम दुबे

(४)

आज भी ईमानदारी जिंदी है

विदेशसे हमलोग बम्बईके शान्ताक्रूज हवाई अड्डेपर उतरे । लम्बी हवाई सफरकी थकावट थी । जल्दीसे किसी अच्छे होटलमें जानेके लिये एक टैक्सी लेकर हम दोनों—पति-पत्नी मेरिन ड्राइवकी ओर बढ़े । वहाँ ३-४ होटलोंमें पूछताछ की, पर स्थान रिक्त न होनेके कारण आगे बढ़ना पड़ा । रात्रिके दो बजे हमें एक अच्छे होटलमें स्थान मिला । ड्राइवरने टैक्सीसे सामान निकालकर होटलके कर्मचारीको सौंप दिया और अपना किराया लेकर वह विदा हो गया । लिफ्टसे होटलके ऊपरके तल्लेमें पहुँचनेपर जब हमलोग अपना सामान सँभालने लगे, तब मुझे अपना 'ब्रीफकेस' (छोटी पेटिका) वहाँ नहीं दिखायी दिया । ब्रीफकेस न देखकर मेरी दशा ऐसी हो गयी मानो मुझपर बिजली गिर पड़ी हो । मेरा मस्तिष्क चिन्तासे भर गया, मेरी स्थिति किंकर्त्तव्यविमूढ़की-सी हो गयी । अपनेको सँभालकर मैंने तुरंत टेलीफोन उठाया और होटलके मैनेजरसे फोनपर पूछा । उत्तर मिला—'टैक्सीका सभी सामान आपके कमरेमें पहुँचा दिया गया है ।' अब शङ्का होने लगी कि शायद हवाई अड्डेपर ही ब्रीफकेस छूट गया हो । मैंने हवाई अड्डेपर छूटे हुए सामानको सुरक्षित रखनेवाले कार्यालयको फोन किया; किंतु वहाँसे उत्तर मिला—'रातके ४ बज रहे हैं, इस समय कुछ भी नहीं हो सकेगा । आप सुबह फोन कर लें ।'

हमलोगोंकी नींद हराम हो गयी । विचार-विमर्श करते ही सूर्योदय हो गया । मेरी पत्नी तो प्रार्थना कर रही थी और कह रही थी कि 'हमारे हककी चीज कहीं नहीं जा सकती, कहींसे मिल ही जायगी ।' परंतु मुझे उसकी बातपर विश्वास नहीं हो रहा था । मैंने उसे उत्तर दिया—'यह बम्बई नगरी है; यहाँ गयी हुई चीज वापस नहीं मिलती ।'

हमलोग इस प्रकार बात कर ही रहे थे कि नीचेसे होटलके मैनेजरका टेलीफोन आया—'महाशयजी ! नीचे आइये, एक सज्जन आपसे मिलने आये हैं । उनके हाथमें एक ब्रीफकेस भी है, शायद वह आपका ही हो ।' आशाकी एक किरन चमकी, हृदयमें कुछ सान्त्वना आयी । मैं तुरंत लिफ्टसे नीचे आया; देखा—वही रातवाला टैक्सी-ड्राइवर ब्रीफकेस लिये खड़ा है । मैं उससे कुछ पूछूँ, इससे पहले ही वह बोल उठा—'साहब ! मुझे बहुत दुःख है और मैं इसके लिये शर्मिन्दा हूँ कि रातको आपका ब्रीफकेस टैक्सीमें ही रह गया । आपको बहुत परेशानी हुई होगी । मैं इसके लिये माफी चाहता हूँ ।'

उसके इतने शब्दोंसे मेरे दिलमें दम आया । ड्राइवर कहता गया—'अभी प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर जब मैं टैक्सीकी सफाई करने लगा तो मुझे यह ब्रीफकेस दिखायी दिया और मैं तुरंत इसको लेकर यहाँ दौड़ा आया हूँ ।' यह कहते हुए उसने ब्रीफकेस मेरे हाथमें थमा दिया और फिर बोला—'साहब ! इसे अभी खोलकर देख लीजिये, आपका सब सामान दुरुस्त है न ?'

मैंने ब्रीफकेस खोलकर देखा, सभी सामान यथावत् था । मैंने जेबसे सौ रुपये निकाले और ड्राइवरको देते हुए कहा—'आपको बहुत-बहुत धन्यवाद ! हम आपके आभारी हैं । भारत-भ्रमणके लिये जो कुछ रकम हमलोग लाये थे, वह सब इसीमें थी । यह लीजिये आपका इनाम ।'

'नहीं साहब ! इनाम लेनेसे ईमान चला जाता है; हमें आप मिल गये और हमने आपकी चीज सही रूपमें सौंप दी, यह मालिककी कृपा है । वर्ना मुझे पुलिस चौकीमें जाना पड़ता । अच्छा नमस्कार······ !'

टैक्सी-ड्राइवर चला गया । कुछ दिनों बाद जब मैं विदेश लौटा, तब वहाँके अपने मित्रोंसे मैंने गर्वसे कहा—'हमारे भारतमें आज भी ईमानदारी जिंदी है ।'

'अखण्ड आनन्द' —यूसुफ नूर कीडी

(५)

विशालहृदयता

श्रीरामकृष्ण परमहंसके प्रसिद्ध भक्त श्रीनाग महाशय होमियोपैथिक पद्धतिसे चिकित्सा करते थे । उनका सम्पूर्ण जीवन ही सेवामय था । चिकित्साका कार्य भी वे सेवा-

भावसे करते थे। चिकित्सा होनेपर किसीने प्रसन्नतासे कुछ दे दिया तो रख लिया, नहीं तो उसके लिये उन्होंने कभी किसीसे कुछ कहा नहीं।

धीरे-धीरे नाग महाशयकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी। एक बार उन्हें एक दूर स्थानके सज्जन अपने किसी कुटुम्बीके उपचारके लिये लिवा ले गये। जब नाग महाशय वहाँसे लौटने लगे, तब उन सज्जनने उन्हें स्टीमरके किराये आदिके रूपमें पाँच रुपये कुछ पैसे दिये। नाग महाशय उन सज्जनके घरसे निकलकर स्टीमर पकड़नेके लिये नदीकी ओर बढ़ रहे थे। अचानक उनकी दृष्टि सड़कके किनारे पड़ी हुई एक वृद्धा अशक्त भिखारिनपर पड़ी। भिखारिन बड़े ही करुण स्वरमें कह रही थी—'बाबू! भूखके मारे प्राण जा रहे हैं, कुछ देते जाइये।'

नाग महाशयका हृदय एक वृद्धाके मुखसे ऐसे करुण शब्द सुनकर द्रवित हो गया। तुरंत उनका हाथ जेबमें गया और पूरी रकम उन्होंने निकालकर उस वृद्धाके हाथ-पर रख दी। कुछ दूर बढ़नेपर नदीका तट आ गया। स्टीमरपर यात्री बैठ रहे थे; किंतु नाग महाशय टिकट कहाँसे खरीदते। जो पैसे उनके पास थे, वे तो बुढ़ियाकी अर्चनामें अर्पित हो चुके थे। सच्चे सेवकका उत्साह सेवाके सम्पन्न होनेपर बहुत बढ़ जाता है। नाग महाशयने तैरकर नदी पार करनेका निश्चय किया। नदीका पाट पर्याप्त चौड़ा था; परंतु भगवान्‌का भरोसा करके वे नदीमें उतर गये और सकुशल नदी पार हो गये। किनारे पहुँचनेपर उनका शरीर बहुत क्लान्त हो गया था, पर मनमें बड़ा संतोष और उल्लास था।

सेवककी परीक्षा अभी पूर्ण नहीं हुई थी। घर वहाँसे बहुत दूर था। दृढ़निश्चयी नाग महाशय घरकी ओर पैदल ही बढ़ चले। पासमें कुछ था नहीं, अतएव खानेका तो प्रश्न ही नहीं था। हाँ, जल अवश्य स्थान-स्थानपर उपलब्ध हो जाता था। इस प्रकार उपवास-तपस्याका जीवन व्यतीत करते हुए वे कई दिनके पश्चात् घर पहुँचे। विलम्बसे घर पहुँचनेके कारण घरवाले बहुत चिन्तित थे; किंतु नाग महाशयके मुखपर प्रसन्नताके दर्शन हो रहे थे।

ऐसी थी श्रीनाग महाशयकी विशालहृदयता!

(६)

उपदेशक—सेवक

बात पुरानी है। गीतावाटिकाके श्रीराधाष्टमी-पण्डालमें परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका प्रवचन हो रहा था। उन दिनों उत्तरप्रदेशके पूर्वी जिलोंमें भीषण अकालकी स्थिति थी। 'गीताप्रेस-सेवादल'के तत्त्वावधानमें श्रीभाईजीने सेवाकार्य आरम्भ कर दिया था। अन्न, वस्त्र आदिसे अकालपीड़ितोंकी सेवा हो रही थी। स्वास्थ्य ढीला रहनेपर भी श्रीभाईजी स्वयं अकालग्रस्त क्षेत्रोंका निरीक्षण करने जाया करते थे। श्रीभाईजीका हृदय भूखे नर-नारियों एवं पशुओंकी दयनीय दशासे बहुत पीड़ित था। संयोगसे उस दिन कलकत्ता-बम्बईसे कुछ धनी-मानी व्यक्ति श्रीभाईजीसे मिलने तथा अपने परिवार एवं कारबारके सम्बन्धमें परामर्श लेनेके लिये आये हुए थे। श्रीभाईजीने प्रवचन आरम्भ किया—

"भक्त नरसी मेहताका एक पद है, जो पूज्य बापू (महात्मा गाँधी) को बहुत प्रिय था—

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड़ पराई जाणे रे।
परदुःखे उपकार करे, तोये मन अभिमान न आणे रे॥

—सचमुच 'वैष्णव'—भगवान्‌का प्यारा वही है, जो दूसरेके दुःखको अनुभव करता है, उसे दूर करनेके लिये अपनी शक्तिभर प्रयत्न करता है। जगत्‌में किसी भी व्यक्तिके पास जो कुछ है, सब भगवान्‌का है और भगवान्‌की सेवाके लिये ही है। इसी प्रकार सबमें भगवान् हैं—समस्त जीवोंके रूपमें भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है। अतएव भगवान्‌के जिस किसी रूपको, जब भी, जिस वस्तुकी आवश्यकता हो और वह यदि हमारे पास हो तो 'भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌के अर्पण है'—इस भावसे बिना अभिमानके नम्रतापूर्वक उसे अर्पण कर देना चाहिये।"

—इसी भावको श्रीभाईजीने अपने प्रवचनमें विस्तारसे समझाया। श्रोतागण बड़े ध्यानसे श्रीभाईजीकी बातें सुन रहे थे। प्रवचनकी समाप्तिपर शहरसे आये हुए लोग चले गये। कलकत्ते-बम्बईसे आये हुए बन्धुओंने श्रीभाईजीको घेर लिया। इसी बीच फटे-मैले कपड़ोंमें एक युवक श्रीभाईजीके समक्ष आकर खड़ा हो गया। दीन-हीन युवकको देखते ही श्रीभाईजीका ध्यान उन धनी बन्धुओंकी ओरसे हट गया और उन्होंने उस युवकसे पूछा—'भैया! कहाँ रहते हो? कैसे आये हो?' श्रीभाईजीके ये शब्द इतने प्यारभरे थे कि युवक एक शब्द भी बोल न पाया; उसकी आँखें झरने लगीं। बस, श्रीभाईजीका परदुःखकातर हृदय

द्रवित हो गया । वे तुरंत उठ खड़े हुए और उस युवकके पास जाकर उन्होंने अपना बायाँ हाथ उसके दाहिने कंधेपर रख दिया और दाहिने हाथसे वे उसके सिरको सहलाने लगे । इस अप्रत्याशित स्नेहको पाकर युवकका हृदय और भी भर आया; अब वह सुबक-सुबककर रोने लगा । श्रीभाईजी उसी प्रकार उसके सिरको सहलाते रहे । कुछ देरमें दुःखका आवेग जब कम हुआ, तब श्रीभाईजीने युवकसे पूछा—'भैया ! इतने रोते क्यों हो ?'

"बाबू ! दो दिनसे खानेको नहीं मिला है । घरमें वृद्ध माता-पिता तथा छोटे भाई-बहन भूखे हैं । सर्दीके दिन हैं । शीत-निवारणके लिये कोई कपड़ा नहीं है । बहन सयानी हो गयी है, अपनी लाज बचानेके लिये उसके पास लूगा—वस्त्र नहीं है । वर्षा न होनेसे खेतमें कुछ भी अनाज नहीं हुआ । बाप-दादोंकी इज्जत है; किसीसे अपना दुःख कह भी नहीं सकते । आपका नाम सुनकर आपकी शरणमें आया हूँ ······ ।"—किसी प्रकार अपनेको सँभालकर युवकने अपना दुःख श्रीभाईजीके समक्ष रक्खा ।

श्रीभाईजी युवकको सान्त्वना देने लगे और उसका हाथ पकड़कर वहीं दरीपर बैठ गये । बाहरसे आये हुए धनी-बन्धु यह सब देखकर विस्मित थे कि उन लोगोंकी ओरसे सर्वथा उपराम होकर किस प्रकार श्रीभाईजीने अपना ध्यान उस दीन-हीन युवकपर केन्द्रित कर दिया ।

श्रीभाईजीने अपने सेवकको आदेश दिया—"इस भाईको अपने साथ ले जाओ । इसे धोती-कुर्ता दे दो और कुँएपर इसे स्नान करवा दो ।"

सेवक युवकको लेकर चला गया । श्रीभाईजी वहीं पण्डालमें बैठे रहे । थोड़ी देरमें युवक स्नान करके नये वस्त्र पहनकर श्रीभाईजीके पास आ गया । श्रीभाईजीने अपने घरसे नाश्ता और दूध मँगवाया और अपने समक्ष उस युवकको ग्रहण करवाया । युवक दूध पीता जा रहा था और बार-बार अपनी आँखें पोंछ रहा था । वह देख रहा था—किस प्रकार पाँच-सात श्रीमन्तोंसे घिरे हुए श्रीभाईजी सबकी ओरसे उपराम होकर केवल उसकी ही सँभाल कर रहे थे !

इसी बीच श्रीभाईजीने अपने एक साथीको अपनी धर्मपत्नीके पास भेजा और युवकके परिवारवालोंके लिये कई साड़ी, धोती तथा कुर्ते एवं लहँगेका कपड़ा और ३-४ कम्बल मँगवाये । युवकको सब सामान सौंपते हुए श्रीभाईजीने अन्नके लिये पर्याप्त रुपये भी उसे दिये । इसके पश्चात् एक रिक्शा मँगवाया और उसपर युवकको बैठाकर बिदा किया । जब रिक्शा चलने लगा, श्रीभाईजीने कहा—"भैया ! आज तो तुम जाओ, पीछे फिर आना । मैं ऊपर अपने कमरेमें होऊँ तो तुम इस भाईसे (सेवककी ओर संकेत करते हुए) मिल लेना । यह मुझे तुम्हारे आनेकी सूचना कर देगा । रोना मत, घबराना मत; भगवान् सब व्यवस्था करेंगे ।"

युवकको विदा करनेके पश्चात् श्रीभाईजी बाहरसे पधारे हुए बन्धुओंसे बोले—"क्षमा कीजियेगा, आपलोगोंका एक घंटा मैंने बर्बाद कर दिया । परंतु क्या करूँ, किसी दुःखी प्राणीको देखकर मैं अपनेको सँभाल नहीं पाता । आस-पासके कुछ गाँवोंकी दशा बहुत ही शोचनीय हो रही है । मैं स्वयं वहाँ जाकर देखकर आया हूँ । वहाँकी दशा देखकर मनुष्यको बरबस रो देना पड़ता है । आज देशमें अभी ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो बहुत सुखसे खाते-पीते हैं और वे चाहें तो बहुतोंके पेटकी ज्वाला मिटा सकते हैं । खाने-पहननेके पदार्थ तथा घास-चारा आदि कीमत देनेपर काफी परिमाणमें मिल सकते हैं । ऐसा होते हुए भी आज हजारों-लाखों नर-नारी एवं पशु अन्न और चारे-दानेके बिना परेशान हैं—कुछ मर भी रहे हैं—यह बहुत ही व्यथाकी बात है ! मैं तो कमजोर व्यक्ति हूँ, अपनी दशा क्या कहूँ ! जब खाने बैठता हूँ और अपने सामने थालीमें घीसे चुपड़ी हुई रोटियाँ तथा कई तरहकी शब्जियाँ देखता हूँ तो मेरी आँखें गीली हो जाती हैं और भोजन अच्छा नहीं लगता; पर घरवालोंसे मैं इस स्थितिको छिपा लेता हूँ । इसी प्रकार रातको सोनेके समय जब रुईकी गद्दीपर सिरके नीचे तकिया लगाकर रजाई ओढ़कर सोना चाहता हूँ, तब बहुधा उन नंगे-भूखे—कङ्कालमात्र नर-नारियोंके चित्र आँखोंके सामने आ जाते हैं; नींद गायब हो जाती है और मैं बिस्तरपर पड़ा-पड़ा उनके कष्ट-निवारणके लिये भगवान्से प्रार्थना करता रहता हूँ । अपनी इस विवशताको मैं छिपाये रहता हूँ, पर आज प्रसङ्ग-वश इसकी चर्चा हो गयी !'

—यों कहते-कहते श्रीभाईजीका हृदय भर आया, अन्तर्व्यथा मुखपर झाँकने लगी । धनी-बन्धु श्रीभाईजीके हृदयका वास्तविक परिचय प्राप्तकर आश्चर्यचकित एवं मुग्ध थे । सभीने अपनी-अपनी सामर्थ्यके अनुसार सेवाकार्यमें सहयोग देनेकी बात श्रीभाईजीसे कही ।

'कल्याण'के विशेषाङ्क

'कल्याण'के विशेषाङ्कोंकी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। यही हेतु है कि समाजमें उनका बहुत आदर है। प्रत्येक विशेषाङ्कको देश-विदेशके अधिकारी विद्वानोंने उस विषयका 'विश्वकोश' माना है। देशके विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा शोध-संस्थाओंमें भारतीय अध्यात्म, धर्म, संस्कृति, विभिन्न साधना-प्रणालियों, पुराण, महाभारत, रामायण आदि शास्त्रग्रन्थोंके सम्बन्धमें शोध करनेवाले विद्वान् छात्र 'कल्याण'के विशेषाङ्क अवश्य देखते हैं और उनसे पर्याप्त सामग्री एवं मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं। हमारे पास शोध-कर्त्ताओंके आग्रहपूर्ण पत्र बराबर आते रहते हैं कि 'कल्याण'के अबतकके प्रकाशित विशेषाङ्कोंकी सूची प्रकाशित की जाय। 'कल्याण'-प्रेमियोंके आदेशका पालन करते हुए अबतकके प्रकाशित विशेषाङ्कोंकी सूची नीचे दी जा रही है। इन विशेषाङ्कोंमेंसे केवल वर्ष ४५ का 'अग्निपुराण-गर्गसंहिता-नरसिंहपुराणाङ्क' ही इस समय उपलब्ध है, जिसकी अजिल्द प्रति रु० ८.५० में तथा सजिल्द प्रति १० रुपयोंमें प्राप्त की जा सकती है। इस विशेषाङ्कके अतिरिक्त अन्य कोई भी विशेषाङ्क इस समय प्राप्य नहीं है; कृपया कोई भी सज्जन उनके लिये पत्र लिखनेका कष्ट न करें। हाँ, जिनके पास पुराने विशेषाङ्क हों और वे उन्हें मूल्य लेकर देना चाहते हों, वे हमसे पत्र-व्यवहार कर सकते हैं।

वर्ष	विशेषाङ्कका नाम	वर्ष	विशेषाङ्कका नाम
१	(इस वर्ष विशेषाङ्क प्रकाशित नहीं हुआ)	२५	संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क
२	भगवन्नामाङ्क	२६	भक्तचरिताङ्क
३	भक्ताङ्क	२७	बालक-अङ्क
४	गीताङ्क	२८	संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क
५	रामायणाङ्क	२९	संतवाणी-अङ्क
६	कृष्णाङ्क	३०	सत्कथाङ्क
७	ईश्वराङ्क	३१	तीर्थाङ्क
८	शिवाङ्क	३२	भक्ति-अङ्क
९	शक्ति-अङ्क	३३	मानवताङ्क
१०	योगाङ्क	३४	संक्षिप्त देवीभागवताङ्क
११	वेदान्ताङ्क	३५	संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्क
१२	संत-अङ्क	३६	संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क
१३	मानसाङ्क	३७	संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराणाङ्क
१४	गीतातत्त्वाङ्क	३८	श्रीकृष्णवचनामृताङ्क
१५	साधनाङ्क	३९	भगवन्नाम-महिमा एवं प्रार्थनाङ्क
१६	भागवताङ्क	४०	धर्माङ्क
१७	संक्षिप्त महाभारताङ्क	४१	श्रीरामवचनामृताङ्क
१८	संक्षिप्त वाल्मीकीय रामायणाङ्क	४२	उपासनाङ्क
१९	संक्षिप्त पद्मपुराणाङ्क	४३	परलोक और पुनर्जन्माङ्क
२०	गो-अङ्क	४४	अग्निपुराण-गर्गसंहिताङ्क
२१	संक्षिप्त मार्कण्डेय-ब्रह्मपुराणाङ्क	४५	अग्निपुराण-गर्गसंहिता-नरसिंहपुराणाङ्क
२२	नारी-अङ्क	४६	श्रीरामाङ्क
२३	उपनिषद्-अङ्क	४७	श्रीविष्णु-अङ्क
२४	हिंदू-संस्कृति-अङ्क	४८	श्रीगणेशाङ्क

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गो

सम्मान्य ग्राहकों और पाठकोंसे निवेदन

१. 'कल्याण'का यह ४८वें वर्षका ९वाँ अङ्क है। १०वाँ, ११वाँ एवं १२वाँ—ये तीन अङ्क और निकल जानेपर यह वर्ष पूरा हो जायगा। परम्पराके अनुसार ४९वें वर्षका प्रथम अङ्क विशेषाङ्क होगा। इस वर्षका विशेषाङ्क 'श्रीहनुमान-अङ्क'के नामसे प्रकाशित होने जा रहा है। श्रीहनुमान-सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक विषयोंपर प्रामाणिक सामग्रीका संग्रह इस अङ्कमें रहेगा और यह अङ्क तत्त्व एवं साधनाकी दृष्टिसे बड़ा ही महत्त्वपूर्ण होगा। भक्तराज श्रीहनुमानका चरित भी विभिन्न शास्त्रोंके आधारपर विस्तारसे इसमें रहेगा। सदाकी भाँति तिरंगे एवं रेखा-चित्र भी रहेंगे। इस प्रकार यह अङ्क गम्भीर एवं रोचक—दोनों होगा।

२. विशेषाङ्कके मुद्रणका कार्य आरम्भ हो गया है। पूरी चेष्टा है कि अङ्क समयपर प्रकाशित हो जाय। देशके प्रायः सभी प्रसिद्ध आचार्यों, संतों, महात्माओं, विद्वानों आदिने श्रीहनुमानकी अर्चनाके लिये अपने भाव-सुमन भेजे हैं। इस प्रकार यह अङ्क भी 'कल्याण'के विशेषाङ्कोंकी परम्पराके अनुरूप ही होगा, ऐसी आशा है।

३. इस वर्ष भी 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क १२.०० रुपये ही रखा गया है, जब कि कागजके दाम लगातार बढ़ते जा रहे हैं तथा छपाईके अन्य उपकरणोंके मूल्यमें भी बड़ी वृद्धि होती जा रही है। कर्मचारियोंके वेतन आदि भी इधर दो-तीन वर्षोंमें बहुत बढ़ गये हैं।

४. सदस्योंको अपना वार्षिक शुल्क शीघ्र भेजनेकी कृपा करनी चाहिये। सदस्योंकी सुविधाके लिये मनीआर्डर-फार्म इस अङ्कके साथ भेजा जा रहा है। रुपये भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें अपना नाम, पता, ग्राम, मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि साफ-साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें, ग्राहक-संख्या न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखना न भूलें।

५. सदस्योंको रुपये भेजनेमें शीघ्रता करनी चाहिये, कारण विशेषाङ्क सीमित संख्यामें ही छापा जा रहा है। गत वर्षोंमें 'श्रीरामाङ्क', 'श्रीविष्णु-अङ्क' तथा 'श्रीगणेश-अङ्क'के लिये कई हजार पुराने एवं नये सदस्योंको निराश होना पड़ा। 'श्रीहनुमान-अङ्क'की माँग और भी अधिक होनेकी आशा है। अतः मनीआर्डरद्वारा रुपये शीघ्र भेजकर अपना अङ्क पहलेसे सुरक्षित करा लेना चाहिये।

६. जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना अवश्य दे दें, जिससे 'कल्याण' को व्यर्थ हानि न सहनी पड़े।

७. इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और बहुत विलम्बसे दिये जानेकी सम्भावना है। यों सजिल्द अङ्कका वार्षिक मूल्य १४ रु० है।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)